

फिर निराशा क्यों ?

संपादक

सर्वप्रथम देव-पुरस्कार-विजेता

श्रीदुलारेलाल

(सुधा-संपादक)

गंगा-पुस्तकमाला का १५५वाँ पुष्प

फिर निराशा क्यों?

लेखक

गुलाबराय एम्० ए०

[नवरस, ठलुआ-क्लब आदि पुस्तकों के लेखक]



मिलने का पता—

गंगा-ग्रंथागार

३६, लाटूश रोड

लखनऊ

पंचमावृत्ति

सजिल्द १।॥=)] सं० २००२ वि० [सादी ।॥=)

प्रकाशक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-पुस्तकमाला-कार्यालय
लखनऊ

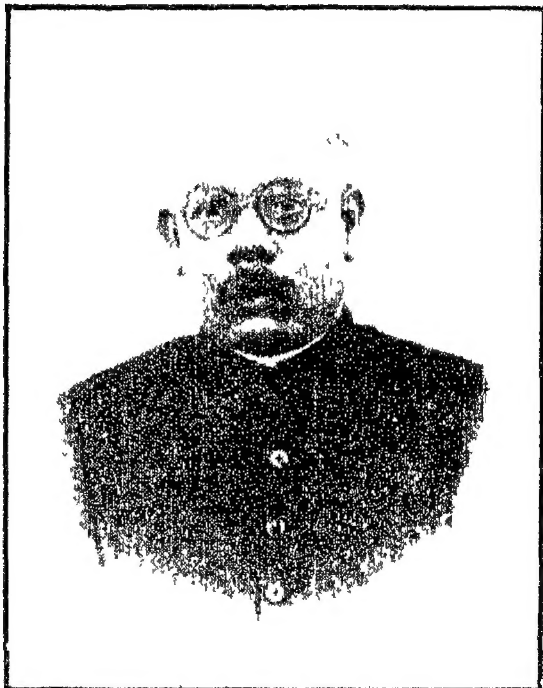
अन्य प्राप्ति-स्थान—

१. दिल्ली-ग्रंथागार, चर्खेवालाँ, दिल्ली
२. प्रयाग-ग्रंथागार, १, जॉन्सटनगंज, प्रयाग
३. काशी-ग्रंथागार, मच्छोदरी-पार्क, काशी
४. राष्ट्रीय प्रकाशन मंडल, मछुआ-टोली, पटना
५. साहित्य-रत्न-भंडार, सिविल लाइंस, आगरा
६. हिंदी-भवन, अस्पताल-रोड, लाहौर
७. एन्० एम्० भटनागर ऐंड ब्रादर्स, उदयपुर
८. दक्षिण-भारत-हिंदी प्रचार-सभा, त्यागरायनगर, मद्रास

नोट—हमारी सब पुस्तकें इनके अलावा हिंदुस्थान-भर के सब बुकसेलरों के यहाँ मिलती हैं। जिन बुकसेलरों के यहाँ न मिलें, उनका नाम-पता हमें लिखें। हम उनके यहाँ भी मिलने का प्रबंध करेंगे। हिंदी-सेवा में हमारा हाथ बँटाइए।

मुद्रक
श्रीदुलारेलाल
अध्यक्ष गंगा-फाइनआर्ट-प्रेस
लखनऊ

फिर निराशा क्यों ?



श्रीयुत गुलाबराय एम्० ए०

तृतीय संस्करण की भूमिका

इस पुस्तक का प्रथम संस्करण संवत् १९७५ में निकला था। इस बात को प्रायः अट्ठारह वर्ष हो गए। यद्यपि यह कहना कठिन है कि वर्तमान युग का आरंभ कब हुआ—क्योंकि विचारों का विकास होता है, कुम्हार के घड़े की भाँति सृजन नहीं—तथापि लोग वर्तमान युग का आरंभ बीसवीं शताब्दी के आरंभ से ही मानते हैं। प्रस्तुत पुस्तक में नवीन युग के दृष्टिकोण का दिग्दर्शन कराने का उद्योग किया गया था। अरुणशिखा की बाँग की भाँति इसमें नवयुगोदय की सूचना थी। उस समय ये विचार अपनी कुमारावस्था में थे। हिंदी-संसार में भी उन विचारों का प्रवेश हो गया था, किंतु वे पूर्णतया व्यक्त नहीं हुए थे। संभव है, यह मेरा भ्रम हो, किंतु मेरा अनुभव यह है कि मुझे अपने विचारों की पुष्टि के लिये तत्कालीन साहित्य में अवतरण बड़ी कठिनाई से मिलते थे। आज-कल इन विचारों को हम उनकी किशोरावस्था में देखते हैं। अब अवतरणों की कमी नहीं। वर्तमान हिंदी-साहित्य में वर्तमान युग का रंग पूर्णतया दिखाई पड़ता है। अब मनुष्य-मात्र कविता का विषय बन गया है। उसके पद का आदर नहीं, वरन् उसके मनुष्य होने का महत्त्व है। हम अपनी अपूर्णता को भी गौरव की दृष्टि से देखते हैं, हार को ही जीत समझते हैं। हम दुःख से ऊबते नहीं, वरन् उसका स्वागत करते हैं। कम-से-कम हमारे विचार अवश्य ऐसे हैं। विचार ही समय पाकर कार्य में परिणत हो जायँगे। प्रस्तुत पुस्तक में भी कुछ इसी प्रकार की बातें हैं। ये विचार यद्यपि अब

नवीन नहीं, तथापि अभी पुराने भी नहीं हुए। इसीलिये इस पुस्तक को तीसरी बार हिंदी-संसार में भेजने का साहस कर रहा हूँ। आशा है, यह पुस्तक वर्तमान साहित्य में वर्णित वर्तमान युग के भावों को समझाने में सहायता देगी। यह पुस्तक अरुणोदय के समय लिखी गई थी। जो लोग मध्याह्न-कालीन सूर्य के प्रखर तेज के अभ्यस्त हो गए हैं, उनके लिये इसमें चाहे कुछ धुँधलापन दिखाई पड़े, किंतु मुझे यह विश्वास है कि साधारण दृष्टि के लोगों के लिये यह मंद आलोक सुखद होगा। वर्तमान संस्करण के पाठ संशोधन करने में 'आर्यमित्र' के भूतपूर्व संपादक पं० हरिशंकर शर्मा से जो सहायता मुझे मिली है, उसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ।

नागरी-प्रचारिणी सभा
आगरा
चैत्र-शुक्ला १,
१९९३

गुलाबराय

प्राक्कथन

संसार के विषय में दार्शनिक विद्वानों की मुख्यतः दो सम्मतियाँ हैं। एक तो यह कि संसार नितांत दुःखागार है। यहाँ विभिन्न व्याधियाँ, असहनीय पीड़ाएँ, अगणित आपत्तियाँ, हृदयदाहिनी चिंताएँ मनुष्यों को सदैव घेरे हुए हैं। कोई जरा-रोगादि से पीड़ित है; कोई पुत्र-शोक से विह्वल है; कोई संतानाभाव से दुःखित है; कोई धनाभाव, दरिद्रता एवं ऋणभारादि के दुःख से व्याकुल है; कोई धनोपार्जन के कष्टों से अशांत-चित्त है; कहीं जन्म, कहीं मरण, कहीं रुदन, कहीं विकराल बुभुक्षा, कहीं शरीर पीड़ा, कहीं पुत्र-कलत्र-शोक-संताप, निदान सुख-शांति कहीं नहीं है। जिस वस्तु को देखो, वही परिवर्तनशील और नाशवान् है। नवयौवना, मनोरमा सुंदरी वृद्धा तथा कुरूपा हो जाती है। अनेक-संग्राम विजयी वीर जरा और रोग से जर्जर हो जाते हैं। आज जो नितांत दर्शनीय, कला-कौशल-रंजक, अलौकिक शोभा-युक्त भवन दिखाई देते हैं, कल कराल काल की कुटिल गति से उलूक-निवास खँडहर हो जाते हैं। संसार की कौन ऐसी वस्तु है, जो कराल काल का ग्रास नहीं बन जाती? समस्त सांसारिक वस्तुओं पर 'परिवर्तन और नाश' मोटे-मोटे अक्षरों में लिखा है।

महात्मा भर्तृहरिजी ने सत्य कहा है—

> आयुः कल्लोललोलं कतिपयदिवसस्थायिनी यौवनश्रीः,
> अर्थाः संकल्पकल्पा घनसमयतडिद्विभ्रमा भोगपूराः;
> कण्ठाश्लेषोपगूढं तदपि च न चिरं यत्प्रियाभिः प्रणीतम्,
> ब्रह्मण्यासक्तचित्ता भवतु भवभयाम्भोधिपारं तरीतुम्।

यदा मेरुः श्रीमान्निपतति युगान्ताग्निनिहतः,
समुद्राः शुष्यन्ति प्रचुरनिकरग्राहनिलयाः ;
धरा गच्छत्यन्तं धरणिधरपादैरपि धृता,
शरीरे का वार्ता करिकलभकर्णाग्रचपले।

जब संसार की यह दशा है, तब यहाँ सुख कैसा ? इसी असारता पर विचारकर भारतवर्ष के अनेक ऐश्वर्य-संपन्न गृहस्थ, पराक्रमी शूरवीर एवं संसार-विजयी सम्राट् अपने सब सांसारिक ऐश्वर्य तथा राज्याडंबर को त्यागकर वनों को चले गए, और ईश्वराराधन में अपना शेष जीवन व्यतीत किया। इनके आनंद का आदर्श निम्न-लिखित श्लोक से ज्ञात होगा—

गङ्गातीरे हिमगिरिशिलाबद्धपद्मासनस्य,
ब्रह्मध्यानाभ्यसनविधिना योगनिद्रां गतस्य ;
किं तैर्भाव्यं मम सुदिवसैर्यत्र ते निर्विशङ्काः,
संप्राप्स्यन्ते जरठहरिणाः शृङ्गकण्डूविनोदम्।

दूसरी सम्मति यह है—

संसार में दुःख और पीड़ा है ; परंतु साथ ही सुख और आनंद की मात्रा भी कम नहीं। गुलाब में काँटा अवश्य है, परंतु उसके फूल में सुंदरता, सुगंध एवं उपयोगिता इतनी अधिक मात्रा में है कि उसके आगे काँटे से होनेवाली पीड़ा न कुछ के बराबर है। क्या कोई इस पुष्प को उसके काँटे की पीड़ा के भय से छोड़ देता है ? जब हम नाना प्रकार के रंग-बिरंगे मनोहर पक्षियों को अपनी मधुर और मनोमोहिनी ध्वनियों में गान करते सुनते हैं, जब हम हिमालय के अनुपम शोभा-युक्त नैसर्गिक दृश्यों को देखते हैं, जब हम पापनाशिनी जाह्नवी की पवित्र लहरों को शरदृतु के चंद्रमा की ज्योत्स्ना में कल्लोल करते देखते हैं, जब हम नवयौवना, रूप-सौंदर्य-संपन्ना मृग-नयनियों को मधुर स्वरों में गान करते सुनते और देखते

हैं, जब हम नव-विवाहित दंपतियों को प्रेम की डोरी में बँधे हुए जीवनानंद में उन्मत्त देखते हैं, जब हम बड़े-बड़े नगरों के गगन-स्पर्शी, कला-कौशल-संपन्न भवन-शिखरों पर दृष्टि डालते हैं, जब हम किसी फूले-फले उद्यान में जाकर उसकी अनेक सुगंधित, विचित्र कुसुमावलियों एवं उसके नाना प्रकार के प्रफुल्लित वृक्षों और पौधों पर दृष्टिपात करते हैं, जब हम विशाल विद्यालयों में जाकर सरस्वती-देवी के अनुपम चमत्कारों को देखते हैं, तब क्या हम कह सकते हैं कि यह संसार नितांत दुःखागार है ? कदापि नहीं। क्या कोई ऐसी भी स्त्री है, जो प्रसव-वेदना के डर से संतान न चाहती हो ? क्या कोई ऐसा भी मनुष्य है, जो लालन-पालन के कष्टों को असह-नीय समझ पुत्र-रत्न न चाहे ? क्या कोई ऐसा विद्यार्थी है, जो विद्याभ्यास के दुःखों पर दृष्टि डालकर उसका त्याग कर दे, और अपना जीवन निःसार बना दे ? धनोपार्जन में जो कठिनाइयाँ और आपत्तियाँ आती हैं, क्या उन पर दृष्टि डालकर लक्ष्मी-प्राप्ति की चेष्टाएँ छोड़ दी जायँ ? कठोर तप और अनेक शारीरिक कष्टों के पश्चात् ईश्वर-प्राप्ति संभव है। क्या कोई संन्यासी इन प्रारंभिक आपत्तियों के भय से इस अनुपम सिद्धि को छोड़ देता है ? संसार में दुःख अवश्य है, परंतु वहाँ सुख का आधिपत्य है। सुख की प्राप्ति उन्हीं को होती है, जो दुःखों और आपत्तियों का सामना करके उन पर विजय प्राप्त करते हैं, और अपने अंतिम लक्ष्य को प्रारंभिक बाधाओं और कठिनाइयों के भय से नहीं छोड़ देते। संसार एक रणभूमि है। जो वीर सदाचार का कवच पहने हुए हैं, दृढ़-चित्त, पुरुषार्थी और निडर हैं, उन्हीं के हाथ में सुख की विजय-पताका है। आलसी, हीनोत्साह, दुराचारी और कुत्सित मनुष्यों को इसमें सफलता नहीं मिलती। अस्तु।

इन दोनों सम्मतियों में कौन-सी ठीक है, यह निश्चय करना बड़ा

कठिन है। ये दोनो दृष्टियाँ अत्यंत प्राचीन काल से चली आई हैं। दोनो ही पक्षों में बहुत कुछ कहा जा सकता है। परंतु बात तो यह है कि संसार न तो दुःखागार ही है, और न सुख का भांडार ही। सुख और दुःख की स्थिति हमारे बाहर किसी बाह्य पदार्थ में नहीं, वरन् हमारे भीतर ही है। इनका उद्गम-स्थान हमारा मन है, न कि कोई बाहरवाली जड़ वस्तु। धुरंधर दार्शनिक विद्वानों का मत है कि मन के अतिरिक्त और कोई बाह्य वस्तु ही नहीं। यह समस्त दृश्यमान संसार मन के भीतर ही है, बाहर नहीं।

संसार-रचना के तीन अंतिम सूत्र हैं—काल, आकाश और कार्य-कारण-श्रृंखला। इन तीनो के आधार पर ही सब संसार की रचना है, और ये तीनो हमारे मन के भीतर हैं, बाहर नहीं। यह सम्मति भूमंडल के सभी बड़े-बड़े तत्त्ववेत्ताओं और आचार्यों की है। भारतवर्ष के महर्षियों ने तो इस सिद्धांत को खूब ही पुष्ट किया है। इस सिद्धांत का महत्त्व उपनिषदों में भली भाँति दिखाया गया है ; जैसा निम्न-लिखित वाक्यों से विदित होगा—

मन एव हि सङ्कल्पो मन एव हि जीवकः।
मन एव हि चित्तं च मनोऽहङ्कार एव च ॥ १ ॥
मन एव महद्बन्धं मनोऽन्तःकरणं च तत्।
मन एव हि भूमिश्च मन एव हि तोयकम् ॥ २ ॥
मन एव हि तेजश्च मन एव मरुन्महान्।
मन एव हि चाकाशं मन एव हि शब्दकम् ॥ ३ ॥
स्पर्शं रूपं रसं गन्धं कोशाः पञ्च मनोभवाः।
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादि मनोमयमितीरितम् ॥ ४ ॥
दिक्पाला वसवो रुद्रा आदित्याश्च मनोभवाः।
दृश्यमजडं द्वन्द्वजातमज्ञानं मानसं स्मृतम् ॥ ५ ॥

इन वाक्यों से स्पष्ट है कि जो कुछ है, वह मन के भीतर ही है, बाहर नहीं। इस मत को पाश्चात्य विद्वानों ने Idealism अर्थात् प्रत्यय-वाद के नाम से पुकारा है। परंतु पाश्चात्य विद्वानों का Idealism इतना गंभीर और स्पष्ट नहीं, जितना हमारे ऋषि-महर्षियों का। उदाहरणतः उपर्युक्त उपनिषद्वाक्य देखें।

सारांश यह कि सुख-दुःख मन के बाहर नहीं है, बल्कि वे हार्दिक भाव हैं, जिनके उद्गम और लय का केंद्र हमारा मन ही है। एक प्रेमी अपनी प्रेमिका के सुख के लिये विकट संकट झेलता और अनेक दुःखों का सामना करता है; परंतु वह उन्हें दुःख नहीं समझता। इन दोनो व्यक्तियों के मन उच्च और उदार भावों से अर्थात् अगाध प्रेम और देश-भक्ति से परिपूर्ण होते हैं। इस कारण जो दूसरों को दुःख मालूम होता है, वह इन्हें नहीं। इससे सिद्ध हुआ कि सुख-दुःख कोई स्वयं सत्ता रखनेवाले पदार्थ नहीं, बल्कि हमारे मन के भाव हैं, और भावों का अच्छा-बुरा होना हमारे अधिकार के अंतर्गत है। हम अपने इस अधिकार को बहुत कम काम में लाते हैं। यदि यथोचित रीति से अपनी शक्ति काम में लाई जाय, तो हम दुःख के भावों का प्रवेश रोक सकते हैं, और सुख की मात्रा चाहे जितनी अधिक कर सकते हैं। अपने आत्मबल का प्रभाव न जानने से हम अनेक दुःखों के केंद्र बन जाते और यह समझने लगते हैं कि ये दुःख कहीं बाहर से आए हैं, और उसका रोकना अथवा दूर करना हमारी शक्ति में नहीं है।

चित्त की वृत्तियों का रोकना योगशास्त्र का पहला उपदेश है। इसका फल पूर्ण आनंद-प्राप्ति है। श्रीकृष्ण भगवान् ने भी श्रीमद्भगवद्गीता में कहा है कि दुःख का कारण हमारी चित्त-वृत्तियों का प्रभाव ही है। इनको ज्ञानी आत्मबल से रोक सकता है। दुःख का उद्गम-स्थान इंद्रियों के विषयों पर ध्यान देना है। इस पर ध्यान

देने से उनके साथ संग उत्पन्न हो जाता है। संग से काम उत्पन्न होता है, काम से क्रोध और क्रोध से मोह। मोह स्मृति-विभ्रम का कारण है, जिससे बुद्धि का नाश होता है। बुद्धि नष्ट होने से सर्व-नाश हो जाता है। जो मनुष्य आत्मबल द्वारा इंद्रियों से राग-द्वेष दूर करके उनके विषयों को भोगता है, वह शांति प्राप्त करता है। इस शांति में सब दुःखों का नाश है। इसे प्राप्त करनेवाला प्रसन्न-चित्त होकर स्थिर-बुद्धि हो जाता है। यही भाव गीता के निम्न लिखित श्लोकों का है—

ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ;
सङ्गात्सञ्जायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात्स्मृतिविभ्रमः ;
स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।
रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ;
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।
प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ;
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।

वास्तव में सब दुःखों का कारण अपनी चित्त-वृत्तियों का न रोकना है। यदि पूर्ण ज्ञान की दृष्टि से देखा जाय, तो आत्मा अव्यय, अनंत और शुद्ध विज्ञानविग्रह है। उसे सुख-दुःख कुछ नहीं होता। चित्त पिशाच के सदृश भ्रमण करता रहता है। यदि हम राग-द्वेष त्यागकर आत्मा की अभिन्नता देखने लगें, तो हमें परम सुख की प्राप्ति हो जायगी—

अहमेवाव्ययोऽनन्तः शुद्धविज्ञानविग्रहः ;
सुखं दुःखं न जानामि कथं कस्यापि वर्तते ।
अहो चित्तं कथं भ्रान्तं प्रधावति पिशाचवत् ;
अभिन्नं पश्य चात्मानं रागत्यागात्सुखी भव ।

लाला गुलाबराय एम्० ए० की 'फिर निराशा क्यों ?'- नामक प्रस्तुत पुस्तक उच्च दार्शनिक और नैतिक विचारों से परिपूर्ण है। लाला साहब एक उत्कृष्ट दार्शनिक विद्वान् हैं। इनकी प्रस्तुत पुस्तक के विचार पूर्वोक्त संसार-विषयक दो सम्मतियों में पहली से नहीं, बल्कि दूसरी से और उन वाक्यों से मिलते हैं, जो उस पर व्याख्या-रूप कहे गए हैं। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि इन विचारों के अनुसार संसार नितांत दुःखागार नहीं, बल्कि उसमें दुःख की अपेक्षा सुख की मात्रा अधिक है, और सुख-दुःख की स्थिति बाह्य संसार में नहीं, किंतु हमारे मन के भीतर है। यह हमारे अधिकार में है कि हम दुःख की मात्रा हटाकर सुख एवं आनंद की वृद्धि करें।

इस पुस्तक की विशेषता यह है कि इसके लेखक महाशय ने मनुष्य की अपूर्णता को उसकी उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास का साधक माना है। इस दृष्टि से अपूर्णता और अनंतता पूर्णता का पर्याय बन जाती हैं। इस प्रकार मनुष्य की दीनहीन दशा निराशा का विषय नहीं रहती। यह वर्तमान दशा मनुष्य की अंतिम दशा नहीं। मनुष्य ब्रह्म का अंश होने के कारण अपनी वर्तमान दशा का अनुभव करता जा रहा है। जब तक मनुष्य अपनी वास्तविक स्थिति नहीं समझता, तभी तक वह नैराश्य के सागर में ग़ोते खाता रहता है। ग्रंथकार ने मनुष्य-जाति की उच्च स्थिति बतलाकर पाठकों के हृदयों में आशा के बीज बोए हैं। यह आशा केवल व्यावहारिक और सामाजिक विषयों के प्रति नहीं, प्रत्युत मनुष्य की बुद्धि को प्रधानता देकर आध्यात्मिक विषयों की बहुत-सी उलझन सुलझ जाने की भी आशा दिलाई गई है।

लाला साहब की यह पुस्तक अपने ढंग की निराली ही है। हिंदी-साहित्य में इस प्रकार के बहुत कम ग्रंथ हैं, बल्कि यह कहना कि उसका एक तरह से अभाव है, अत्युक्ति नहीं। लाला साहब ने इसे

लिखकर हिंदी-साहित्य-भांडार की वृद्धि ही नहीं की, वरन् संसार का बड़ा उपकार किया है।

जो पुस्तक निरुत्साह, हताश और पुरुषार्थ-हीन मनुष्यों के हृदय में आत्मगौरव-ज्ञान की जागृति करे, जो उनके शिथिल शरीरों में नवीन जीवन-शक्ति का संचार करे, जो विषाद-युक्त मनों में अपार हर्ष की कली प्रस्फुटित करके मनुष्यों को पुरुषार्थ करने के लिये प्रोत्साहित करे, जो मनुष्यों को अपने कर्तव्य कार्यों में कटिबद्ध होने की उत्तेजना दे, और अनिवार्य आपत्तियों तथा कठिनाइयों का प्रसन्नतापूर्वक सामना करने को उद्यत करे, जो मनुष्यों को दुःख और क्लेशों की तुच्छता बताकर उनके सुख और आनंद की वृद्धि करे, वह निःसंदेह परमोपयोगी और लेखक का परिश्रम सफल ही नहीं, बल्कि अति सराहनीय है। आशा है, इस पुस्तक का सर्व-साधारण में यथोचित आदर होगा, जिससे योग्य लेखक इस प्रकार के अन्य ग्रंथ लिखने को प्रोत्साहित हों।

धौलपुर
१५।४।१९१८

कन्नोमल (एम्० ए०)

लेखक का वक्तव्य

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।'

(भगवद्गीता)

'नास्ति आत्मसमं बलम्'

Our first duty is not to hate ourselves, because to advance we must have faith in ourselves first and then in God He who has no faith in himself can never have faith in God.

Swami Vivekanand

फ़ारसी-भाषा में एक लोकोक्ति है—'तसनीफ़ रा मुसन्निफ़ नेको कुनद बयाँ।' अर्थात् अपने लिखे हुए को लेखक ही भली भाँति बता सकता है। इसी कथन के आधार पर, ऐसे उत्तम प्राक्कथन के होते हुए भी, काग़ज़ और स्याही की तेज़ी का विचार न कर, मैंने इस पुस्तक में एक और भूमिका जोड़ देने का साहस किया है।

यदि कोई संक्षेपता-प्रिय पाठक मुझसे एक शब्द में इस पुस्तक का सारांश पूछना चाहे, तो मुझे उससे यही कहना पड़ेगा कि वह शब्द 'मानव-गौरव' है।

मानव-गौरव से पाठकगण शायद कुछ और न समझ जायँ, इस कारण मानव-गौरव की थोड़ी सी व्याख्या कर देनी आवश्यक है। मानव-गौरव झूठाभिमान नहीं है, और न यह ईश्वर से भिन्न होना ही है। मानव-शक्तियों और संभावनाओं को यथावत् जान-

कर अपने में विश्वास रखना ही सच्चा गौरव है। आत्मगौरव ही पुरुषार्थ का मूल है, और बिना पुरुषार्थ के किसी प्रकार की उन्नति संभव नहीं।

न हि सुप्तस्य सिंहस्य प्रविशन्ति मुखे मृगाः।

इस स्थान पर आत्मगौरव की विशेष व्याख्या करना उचित न होगा। भूमिका ही पुस्तक बन जायगी, और मुझे पुनरुक्ति तथा समय के वृथा व्यय के लिये कोई बहाना भी न मिलेगा। किंतु दो-एक संभावित आक्षेपों का उत्तर देना बहुत-सी शंकाओं को बचा देगा, और पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय पर भी एक नई झलक पड़ जायगी।

पुस्तक पढ़कर कुछ लोग यह अवश्य कहेंगे कि आत्मबल और पुरुषार्थ की डींग मारने से क्या होता है। कितने ही प्रयत्न निष्फल होते हैं, और कितनी ही आशाओं पर पानी पड़ जाता है। फिर मनुष्य का गौरव कहाँ? ठीक है। किंतु हमारा यह तो कहना नहीं कि मनुष्य सब कुछ कर सकता है। वह प्राकृतिक नियमों को नहीं बदल सकता। प्रकृति के नियम अटल हैं, किंतु उन नियमों को समझकर मनुष्य उनसे अधिक लाभ अवश्य उठा सकता है। प्रवाह के प्रतिकूल जाना कठिन है, किंतु प्रवाह के वेग के साथ अपना बल लगा देने से मनुष्य शीघ्र ही अभीष्ट प्राप्त कर सकता है। मनुष्य प्रवाह से बाहर नहीं। प्रवाह की गति को तीव्र अथवा मंद बनाने में उसका भी हाथ है। यदि वह प्रवाह के प्रतिकूल चलेगा, तो उसके बल का वृथा क्षय होगा और प्रवाह की भी गति किसी-न-किसी अंश में अवरुद्ध हो जायगी। यदि वह अनुकूल चलेगा, तो उसकी भी शक्ति बढ़ेगी, और प्रवाह की गति का वेग भी बढ़ जायगा। इसलिये मनुष्य को प्रवाह की गति का झुकाव भले प्रकार समझकर उसका वेग बढ़ाने का यत्न करना चाहिए। ऐसा करने

से उसकी सब आशा-लताएँ हरी-भरी हो जायँगी, और उसके मनोरथ सफल होंगे। हमारी जो इच्छाएँ ईश्वर की इच्छा तथा प्राकृतिक नियमों के अनुकूल होती हैं, उनका पूरा होना किसी प्रकार असम्भव नहीं। किंतु उसमें भी प्रयत्न करने की शर्त लगी हुई है। प्रयत्न के बिना कार्य-सिद्धि नहीं होती। निष्क्रिय लोग भी गति के अवरोधक होते हैं। वे दूसरों की शक्ति का अपव्यय कराते हैं। शुभ कामना और सत्य संकल्पों का होना अच्छा है, किंतु प्रयत्न के बिना वह सब निष्फल है। अतः मनुष्य को चाहिए कि वह शुभ कामना-युक्त हो, और साथ ही पुरुषार्थी भी बने। निराशावाद की आवश्यकता नहीं। संसार इतना बुरा नहीं, जैसा वह चित्रित किया जाता है। बुराई की अपेक्षा भलाई अधिक है। अस्पतालों की अपेक्षा घर अधिक हैं। डॉक्टरों की अपेक्षा रसोइए अधिक हैं।

कुछ लोग कह सकते हैं कि इस पुस्तक में मनुष्य-जाति का गौरव बताते हुए उसकी कमज़ोरियों की भी बड़ाई की गई है। इससे लोगों को पाप में प्रवृत्त होने के लिये और भी उत्तेजना मिलेगी। मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं कि लोग दुराचार की खाईं में गिरें, और न मैं सच्चे, साधु-वृत्ति लोगों के पुण्य चरित्रों का तिरस्कार कर पापियों के निंदनीय कर्मों का आदर करना चाहता हूँ। किंतु यह अवश्य मानता हूँ कि जो लोग गिर हुए हैं, उन्हें सहायता देना, उनसे घृणा न करना, और उनके साथ रहकर उन्हें उठाना मनुष्य-मात्र का कर्तव्य है। साथ ही जो लोग पाप से बचे हुए हैं, उन्हें इस बात पर अभिमान नहीं करना चाहिए कि वे पापी नहीं। अभिमान करना भी एक पाप है। जो लोग अभिमान करते हैं, वे पाप से खाली नहीं। ऐसे दुरभिमानी दूसरों को निकलंक कर देते और उस गिरे हुए मनुष्य के न उठने का कारण बन जाते हैं। वे

स्वयं पापियों के दल में मिलकर दलदल में फँस जाते हैं। ऐसे लोगों की अपेक्षा वे पापी ही भले हैं, जो अभिमान नहीं करते। उनके पास बैठकर सहानुभूति की तरंगें उठने लगती हैं। मनुष्य को न तो विषयों में ऐसा लिप्त होना चाहिए कि वह कर्तव्याकर्तव्य की सुध भूल जाय, और न उसे ऐसा कर्तव्य-परायण ही बनना चाहिए कि सारे संसार को सिर पर उठा रक्खे, और कर्तव्य से लोगों का दिल फेर दे। जो कुछ संसार में है, उससे किसी प्रकार की इच्छा न रखते हुए उसी की शोभा में आनंदित हो ईश्वर के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकाशित करना उचित है। जहाँ तक हो सके, श्रेय को ही प्रेय बनाने का यत्न करना चाहिए।

कहीं-कहीं यह भी कहा जायगा कि प्रयत्न और पुरुषार्थ के भाव इस देश के नहीं। इस देश के लोग संसार को दुःखमय मानते आते हैं, और उन्होंने उसे सुखमय समझना अपने जातीय भावों के प्रतिकूल जाना है। ऐसा कहना अपने पूर्वजों का तिरस्कार करना, और उनके प्रति कृतघ्नता दिखाना है। हमारे देश के रीति-रिवाज और आचार-व्यवहारों में ही हमारे जातीय भावों के तंतु छिपे हुए हैं। न हमारे यहाँ शैतान को मानते हैं, जो मनुष्य को सदा पाप की ओर घसीटता रहता है, और न कोई शोक-सूचक त्योहार ही है। फिर हिंदू-जाति के लोगों को सर्व-दुःखवादी (passimist) कहना भूल है। और देखिए, हमारे देश के लोग दुःखांत नाटक तक पसंद नहीं करते थे। हमारे यहाँ के नाट्य शास्त्र का एक सुविख्यात नियम है कि सब नाटक सुखांत होने चाहिए। फिर सब नाटक का सूत्रधार संसार-नाटक किस तरह दुःखांत हो सकता है? कहा जाता है कि हमारे पूर्व पुरुष भाग्य अथवा अदृष्ट को माननेवाले हैं। माना कि वे भाग्य को मानते हैं, तो क्या भाग्य-वादियों को पुरुषार्थ-हीन होना चाहिए। सच्चे भाग्य के माननेवाले भी दुःख को दुःख

नहीं समझते । उसे वे कर्म-गति अथवा हरि की इच्छा कह देते हैं। हरि की इच्छा क्या हमारे अहित के लिये हो सकती है? भाग्य में विश्वास रखनेवाला भी आशा से खाली नहीं। वह जानता है कि मेरा पिछला भाग्य भी मेरे कर्मों का फल है, और अगले भाग्य के लिये शुभ कर्म करने चाहिए। अतएव भाग्य को मानते हुए भी निराशा व्यर्थ है। असफलता कभी अवश्य होती है, परंतु उससे निरुत्साह न होना चाहिए, वरन् यह विचार करना चाहिए कि जिस मनुष्य में ऐसी शुभ कामनाएँ, उच्च आशाएँ और विशाल मनोरथ उत्पन्न हो सकते हैं, वह पद-दलित होने के लिये नहीं है। उसकी उच्च आशाएँ उच्च प्रकृति की सूचक हैं, और वह अवश्य अपनी प्रकृति के अनुकूल उच्च पद प्राप्त करेगा।

इस पुस्तक में कुछ तत्त्वज्ञान-संबंधी विचार भी हैं, जिनका यहाँ समर्थन करने से भूमिका का आकार पुस्तक के परिमाण से भी बढ़ जायगा। विज्ञ पाठक स्वयं ही अपने स्वतंत्र विचार द्वारा इन सिद्धांतों का खंडन-मंडन कर लेंगे। मैं पाठकों की स्वतंत्रता में बाधा नहीं डालना चाहता। इस स्वतंत्रता के कारण शायद मुझे भी कुछ लाभ हो जाय, इसी आशा से मैं यह पुस्तक पाठकों की भेंट करता हूँ।

मैनपुरी
चैत्र शुक्ल १, १९७५

गुलाबराय

फिर निराशा क्यों ?

फिर निराशा क्यों ?

"It is better to be a dissatisfied Socrates than to be a satisfied pig"

> "जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ ;
> मैं बौरी ढूँढ़न गई, रही किनारे बैठ।"

"If water chokes what shall we drink ?"

लोग कहते हैं—"समझनेवाले की मौत है।" हाँ, सच है। जो आँखें बंद किए बैठे रहते हैं, उनके चित्त में घृणोत्पादक दृश्य भी ग्लानि पैदा नहीं करते, किंतु जो लोग देखते हैं, उन्हें हर्ष होता है, और विषाद भी। जो लोग घृणित पदार्थों के लिये आँखें मूँदे बैठे हुए हैं, वे मनोरम दृश्यों के दर्शन-लाभ से भी वंचित हैं।

कविगण संसार की विचित्रता से चकित हो कहने लग जाते हैं कि "न जाने संसारः किममृतमयः किं विषमयः", किंतु जो लोग विष से भागते हैं, उन्हें अमृत के दर्शन भी नहीं होते। शिवजी ने कालकूट पिया, तो उन्हीं के मस्तक को पूज्य पीयूषस्रावी सुधांशु से विभूषित कर उन्हें चंद्रशेखर की पदवी दिलाई। यह तो रही विष से न भागने और कठिनाई सहने की बात। जीवन-संग्राम में बहुत-से लोग कायरता कर जाते हैं। जो लोग जीवन-संग्राम से भागते हैं, वे विजय-सुख से भी वंचित रहते हैं। जीवन-संग्राम की बात तो दूर रही, बहुत-से लोग विचार-संग्राम में भी आगे नहीं बढ़ते। यह ठीक है, युद्ध की वार्ता दूर से ही अच्छी लगती है; किंतु जो

लोग युद्ध में पड़ते हैं, वे युद्ध की कठिनाई के साथ-साथ युद्ध का सुख भी अनुभव करते हैं।

जानने में दुःख है, और सुख भी। बाबा आदम ने ज्ञान का फल खाया। यही उनके पतन का कारण हुआ ; किंतु यही उनके उत्थान का भी कारण है। अगर वह बुराई-भलाई न जानते, तो अपने पैर-तले की मिट्टी के समान ही बने रहते। यह सब ठीक है। जानने से जो मानसिक वेदना होती है, उसे जाननेवाले ही जानते हैं।

"जाके पाँव न फटी बिवाँई, सो क्या जाने पीर पराई ?"

विचार करते ही संशय के भँवर में ग़ोते खाने पड़ते हैं, जिनसे निकलना कठिन हो जाता है। चारो ओर हाथ-पैर पीटते-पीटते हाथ-पैर थक जाते हैं, हाँपते-हाँपते साँस फूल जाती है, दम घुट जाता है, अंग-प्रत्यंग एकदम शिथिल हो जाते हैं, किंतु इतने पर भी डूब जाने के डर से हाथ-पैर पीटना बंद नहीं होता। "जब तक साँस, तब तक आस।"

यदि कहीं इस भँवर से निकलने में सफलता भी मिल गई—किनारे पर भी आ पहुँचे, तो भी क्या ? आगे का मार्ग तो दुर्गम है। थके-माँदे मनुष्य ने इस पंकाकुल विकट पथ पर दो-चार क़दम भी रक्खे, तो दलदल में फँस गया। दलदल से निकलने पर भी आपत्तियों का अंत न हुआ। "छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति।" आगे बढ़े, तो अज्ञान की कठोर भित्ति से सिर टकराया। उसके सामने आकर नैराश्य और असहायता में सहारा लेना पड़ता है। फिर नाना प्रकार की अनर्गल और निरर्थक कल्पनाएँ कर मन को समझाना पड़ता है।

कोई-कोई तो ऐसी दुर्दशा देखकर कहते हैं—भाई ! यहाँ न आते, तो अच्छे रहते। विचार-तरंगिणी में तैरकर क्या लाभ उठाया ? उलटी हानि ही हुई। अब हमको अपनी पूर्वस्थिति पर भी पहुँचना

कठिन है। नदी के उस पार ही क्या बुरे थे। अज्ञान के बराबर कहीं आनंद नहीं।

कोई यह भी कहने लगते हैं—नहीं, नहीं, अच्छा हुआ, जो यहीं तक आए। यह तो जान लिया कि सूची-भेद्य प्रगाढ़ अंधकार के अतिरिक्त आगे कुछ भी नहीं। जो कुछ है, सो दीवार के इसी पार है, आगे तो शून्य है। जितना जाना, वही सत्, बाक़ी सब असत् है।

कुछ ऐसे भी हैं, जो यह कहते हैं—भाई! ठीक है, तैरने में कष्ट अवश्य हुआ, परंतु इससे हमारे अवयव पुष्ट हो गए। हमारी शक्ति बढ़ गई। कदाचित् फिर भँवर में पड़ जायँ, तो अब डूबेंगे नहीं। अच्छा हुआ, जो स्वयं ही जल में घुस पड़े। शायद बढ़ता हुआ जल हमें हमारे स्थान से गिरा देता। तब तो अपने को सँभा-लना ही कठिन हो जाता। यहाँ तक आकर हम यह न मानेंगे कि आगे कुछ है ही नहीं। जो कुछ द्रष्टव्य है, सो सब दीवार के उस ही पार है। और, न यही कहेंगे कि इस पार तो केवल धोखा-ही-धोखा है, यह आलोकित भाग कुछ नहीं।

कोई कहते हैं—हाँ, बात तो ठीक है, किंतु दीवार अभेद्य है। उसकी दूसरी ओर कुछ है अवश्य। वही सत्य भी है, किंतु यह नहीं मालूम कि वह क्या है, और कैसा है। हमारे पास कोई अंधकार-भेदक एक्स-रेज़ (X-Rays) नहीं, जो अज्ञान की दीवार को भेद-कर पार कर सकें, और जिनके द्वारा हम उस पार की वस्तु देख सकें। और, फिर सच तो यह है कि देखते तो हम अपनी बुद्धि के चश्मे से ही हैं। फिर इसका क्या निश्चय कि हमारा चश्मा रंगीन नहीं, और जो कुछ हम देखते हैं, वह वास्तविक है? 'एक्स-रेज़' के होने ही से क्या लाभ?

संशय के भँवर में पड़ने ही के भय से भागती गंगा के पुण्य सलिल

में ध्यान न करना कायरता है । यही नहीं, वरन् अपने नैसर्गिक अधिकारों को खो बैठना और भीषण आत्म-हत्या है ।

"मैं कुछ नहीं जानता"—केवल इतना ही जान लेने के कारण सुक़रात जानकारों में श्रेष्ठ गिना गया, यह ठीक है, किंतु इससे यह नहीं सिद्ध होता कि और कुछ जानने योग्य है ही नहीं, अथवा दीवार के आगे कुछ भी नहीं । इससे केवल यही सिद्ध होता है कि खोज करनी चाहिए । और, जिन बातों को हम ठीक समझते हैं, उन पर बिना विचार किए हमें उन्हें निश्चित विचार कहने का कोई अधिकार नहीं ।

यह किस प्रकार हो सकता है कि दीवार के आगे कुछ नहीं है । जो स्थान देखा नहीं, उसके लिये इसका प्रमाण ही क्या कि वहाँ पर कुछ भी नहीं । फिर सत्ता की सीमा बाँधने का अधिकार किसे है ?

यह भी कहना युक्ति-संगत नहीं कि जो कुछ है, सो दीवार के उस पार ही है—इस ओर की सभी बातें भ्रम-मूलक हैं । क्या हम और हमारे विचार सत्ता की सीमा से बाहर हैं ? यदि ऐसा है, तो यह कहना होगा कि सत्ता के बाहर भी कोई ऐसी वस्तु है, जो सत्य है, नहीं तो हमें अपने विचार असत्य मानने पड़ेंगे । फिर यदि असत्य भी सही, तो क्या असत्य की सत्ता नहीं ? और, यदि ऐसा नहीं, तो शून्य-ही-शून्य है । फिर न तो सच ही रहेगा, न झूठ ही । मूल के नाश होने पर वृक्ष, पत्र और फल, सभी का नाश हो जाता है ।

इसका भी क्या प्रमाण कि हमारी बुद्धि का चश्मा ठीक नहीं ? बुद्धि को चश्मा कहना उसे जान-बूझकर दूषित ठहराना है । बुद्धि चश्मा नहीं, मानसिक नेत्र है । यदि नेत्र का काम देखने का नहीं, तो फिर वह नेत्र ही नहीं, और फिर उसके अस्तित्व से ही क्या ? यदि हमारी बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान भ्रमात्मक है, तो हमें अपना

ज्ञान भ्रम-मूलक ठहराने ही का क्या अधिकार ? क्या हमारा एवंभूत ज्ञान निर्दोष ही रहेगा ?

सत्ता के महासागर से बाहर कुछ भी नहीं है। हमारी बुद्धि भी दूषित नहीं। हम अपनी परिमितता के कारण भले ही सब न देख सकें, किंतु जो कुछ हम देखते हैं, मिथ्या नहीं। क्या अंश अंशी से भिन्न है ? क्या चुल्लू-भर जल से अथाह सागर की परीक्षा नहीं की जाती ?

वास्तव में जिसे हम दीवार कहते हैं, वह हमारे थके हुए मन की भ्रांति है। आगे न चलने की इच्छा ने यह दीवार अपने सुबीते के लिये खड़ी कर ली है।

दृश्य पदार्थ को छोड़कर वास्तविक सत्ता का क्या और कोई रूप है ? वास्तविक सत्ता कोई नवोढ़ा स्त्री की भाँति नहीं, जो अपना दिव्य मुख सदा भ्रम-रूप दृश्यों के सघन अवगुंठन में छिपाए रखना चाहती हो। वह अपना मुख छिपाए, तो किससे ? क्या उससे कोई बाहर है ? उसका द्युतिमान् आनन सदा चंद्र और सूर्य की अलौकिक आभा में दिखाई पड़ता रहता है। हाँ, यदि मान लिया कि सब कुछ भ्रम-ही-भ्रम है, फिर भ्रम से लाभ ही क्या ? थोड़ा जानकर बहुत जानना संभव है, किंतु भ्रम में पड़कर उससे निकलना कठिन है। यदि वास्तविक सत्ता अज्ञेय है, तो उसे जाने बिना अपने को भ्रम में बताने के लिये क्या प्रमाण और ऐसे भ्रम की दशा में प्रमाणों की सत्यता का ही क्या प्रमाण ? हमारा ज्ञान परिमित हो, पर भ्रम-मूलक नहीं। निराशा-निर्मित दीवार भी निश्चल और अभेद्य नहीं। ज्ञान की सीमा दिन-रात बढ़ती रहती है। आलोक की वृद्धि हो, और अंधकार का ह्रास न हो ? "सूर-प्रकास तहँ रैन कहाँ पाइए ?" ज्ञान बढ़े, और अविद्या न जाय ?

फिर निराशा क्यों ?

मनुष्य की मुख्यता

भूतानां प्राणिनः श्रेष्ठाः प्राणिनां बुद्धिजीविनः ।
बुद्धिमत्सु नराः श्रेष्ठा नरेषु ब्राह्मणाः स्मृताः ॥

"नर-समान नहिं कवनिहुँ देही ;
सुर-नर-मुनि सब याचत येही ।" (तुलसी)

"The essence of our being the mystery in us that calls itself "I",—ah, what words have we for such things ?—is a breath of Heaven; the Highest Being reveals himself in man."

(Carlyle)

"मनुष्य ही प्रकृति का राजा है ।"

यह वाक्य मनुष्यों का ही है। इसकी सत्यता का प्रमाण क्या है ? क्या यह अपने मुँह मियाँ-मिट्ठू बनना नहीं ? हाँ, यह आत्म-प्रशंसा ही मनुष्य का प्रधान गुण है । इसी के कारण उसे यह राज्याधिकार प्राप्त हुआ है। अपने विषय में विचार कर लेना थोड़ा गुण नहीं । आत्मश्लाघा में आत्म विचार की शक्ति छिपी हुई है । आत्म विचार ही 'मनुष्य की मुख्यता' है । यही उसे संसार का शिरोमणि बनाता है ।

अपने संबंध में विचार करना और सारे संसार को भी अपने विचार द्वारा उलट-पलट डालना बड़ा भारी गुण है । यह सही, किंतु मनुष्य के विचारों की सत्यता का क्या प्रमाण ? क्या मनुष्य

के अतिरिक्त और कोई जीवधारी उसके कथन की साखी भरता है? क्या साक्ष्य का न होना दोष नहीं?

साक्ष्य का न होना मनुष्य के कथन के गौरव को बढ़ाता ही है। वह मनुष्य की श्रेष्ठता का बड़ा भारी साक्षी है। मनुष्य के कथन को प्रमाणित करने के लिये और किसी गवाह की ज़रूरत नहीं। ईश्वर भी अपनी आज्ञाएँ मनुष्य के द्वारा ही प्रकाशित करना चाहता है। मनुष्य ही में ईश्वर की आज्ञा ग्रहण करने की शक्ति है; और वही अपने ऊपर शासन कर सकता है।

शुद्ध-प्रशांत-चित्त कवियों और स्थितप्रज्ञ महात्माओं की वाणी में ईश्वर के ही ज्ञान की झलक होती है। मनुष्य को स्फूर्ति द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह ईश्वर के निरपेक्ष एवं निर्विकल्प ज्ञान का ही अंश है। मनुष्य की स्फूर्ति ईश्वरीय ज्ञान के प्रकाशित होने का माध्यम है। फिर हम ऐसी महत्त्व-पूर्ण वस्तु का क्यों तिरस्कार करें।

मनुष्य द्वारा ही सारी सृष्टि मूक से वाचाल होती है। मनुष्य ही सारी सृष्टि का मुख है। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्।" क्या ब्राह्मण मनुष्य में से नहीं? चराचर सत्ता मनुष्य को अपना मुख बनाकर आत्मकथा कहती है। आत्मकहानी कहने के लिये दूसरे साक्षी की आवश्यकता नहीं। जब डॉक्टर पूछता है कि आपके पैर में दर्द कैसा है, तब पैर का दर्द बतलाने के लिये मुख ही बोलता है। पैर अपना हाल नहीं कहता। हाथ भी मुख की गवाही देने को नहीं आता।

क्या मनुष्य भूल नहीं करता? क्या मनुष्य पाप-पंक में लिप्त नहीं? हाँ, मनुष्य भूल अवश्य करता है, किंतु उसकी भूल भी मत-लब से खाली नहीं। भूल ही उसके ज्ञान का मूल है। भूल द्वारा ही छिपी हुई संभावनाएँ प्रकाशित होती हैं। भूल का संशोधन होने पर संभव निश्चय हो जाता है—कल्पना सिद्धांत की कोटि में आ-

जाती है। मनुष्य पाप कर सकता है—यही उसकी मुख्यता है, नहीं तो, मनुष्य और पशु में अंतर ही क्या? यदि पाप करने की संभावना नहीं, तो सत्कार्य करने में भी कोई महत्त्व नहीं। हमारे दोष भी हमारे गौरव के कारण हैं।

फिर निराशा क्यों ?

सत्ता-सागर

"जैसा यह जग बना हुआ है, वैसा इसको पहचानो ;
ईश्वर की व्यापकता इसमें सभी ठौर प्यारे, जानो ।
चलोगे सच्चे मन से जो तुम निर्मल नियमों के अनुसार,
तो अवश्य प्यारे, जानोगे सारा जगत सचाई-सार ।"

—श्रीधर पाठक

"एक जोति जग जगमगै जीव-जीव के जीय ;
बिजुरी बिजुरी-घर-निकसि ज्यों जारति पुर-दीय ।

—दुलारेलाल भार्गव

"एक ही तो असीम-उल्लास, विश्व में पाता विविधाभास ;
तरल जलनिधि हैं हरित विलास, शांत अंबर में नील विकास ।"

—सुमित्रानंदन पंत

संसार के सभी महासागर जिसकी एक छोटी-सी लहर हैं, उसी सत्ता-सागर के हम भी एक बुद्बुद् हैं । हम उस सागर के न भीतर हैं, और न बाहर । सभी महासागर के जल-कण हैं । जल-बिंदु जलधि से भिन्न नहीं, और सिंधु भी बिंदु से भिन्न नहीं, बिंदुओं को छोड़कर भला सागर कहाँ !

समस्त दृश्यमान जगत्, चराचर सृष्टि, भिन्न-भिन्न रुचिवाले मनुष्य, नाना भाँति के पशु-पक्षी, वन को लहलहाती लोनी लतिकाएँ, रंग-बिरंगे फूल, निर्मल जल के शीतल मनोहर झरने, स्वच्छ सलिलवाहिनी वेगवती नदी, गगन-चुंबी शैल-शिखर, घने और बीहड़ जंगलों से आच्छादित पर्वत, सघन श्याम सुहावने मेघ तथा वसंत, शांत

और मनोज्ञ नीलाकाश, सब-के-सब एक ही महती सत्ता के अंग-प्रत्यंग हैं।

चेतन संसार अचेतन के ऊपर निर्भर है, और अचेतन चेतन पर। किंतु दोनो एक ही सत्ता के अंग हैं, और वह सत्ता इनसे भिन्न नहीं, अथवा न अचेतन चेतन ही से भिन्न है। क्या अचेतन संसार, जिसकी गोद में चेतन संसार पाला-पोसा गया, और हृष्ट-पुष्ट हुआ, चेतन से भिन्न हो सकता है ?

चेतन और अचेतन एक दूसरे के सहायक हैं। यही उनकी एकता का मूल है। इन्हें प्रतिकूल कहना भूल है। दो प्रतिकूल पदार्थों में भला सहकारिता कैसी ?

जड़ न तो चेतन का कर्ता है, और न चेतन जड़ का। दोनो एक-दूसरे के रूपांतर हैं। चेतन ने जब मौन-व्रत धारण किया, तब वह जड़ हो गया, और जब जड़ बोलने लगा, तब वही चेतनता को प्राप्त हो गया। जड़-चेतन में कुछ भेद नहीं था, भेद केवल धर्म का ही है। धर्म भी ऐसे नहीं, एक दूसरे के प्रतिकूल हों। सहयोगिता ही उनका लक्षण है। एक दूसरे की पूर्ति करते हैं। स्त्री-पुरुष की भाँति एक दूसरे के सहायक हैं। दो होते हुए भी एक हैं। दोनो ही मिलकर सत्ता को पूर्णांग बनाते हैं।

इस सत्ता-सागर में मनुष्य की क्या स्थिति है ? मनुष्य ही द्वारा जड़ और चेतन की पूरी सहकारिता प्रकट होती है। खंड में पिंड का प्रतिबिंब है। मनुष्य ही सत्ता-सागर का छोटा-सा चित्र है।

मनुष्य क्या इस सत्ता का अंतिम फल है ? क्या इससे बढ़कर कुछ और नहीं ? हाँ, अवश्य है ! वह देवाधिदेव परमात्मा है। उसी के तेज से फल और वृक्ष दोनो ही पुष्टि को प्राप्त हो रहे हैं—दोनो ही उसके अंग हैं। वह स्वयं सत्ता का संचालक है। उसी के

बुद्धि-बल के सहारे हमारा भी बुद्धि-बल काम करता है। हम उसी से अपना आदर्श पाते हैं। पूर्ण की सत्ता के कारण अपूर्ण के पूर्ण होने की आशा है। नहीं तो अपूर्ण में पूर्ण का भाव कहाँ से आया? पूर्ण अपूर्ण से ऊँचा, अधिक व्यापक एवं अतीत है। अतीत होकर भी वह अपूर्ण से भिन्न नहीं। कोई वस्तु उससे बाहर कहाँ स्थान पा सकती है? इसी आपत्ति के कारण संसार असत् बतलाया जाता है, किंतु अपूर्ण से अपूर्ण, क्षणिक से क्षणिक नितांत असत् नहीं हो सकता। उसके विचार में तो वह अवश्य सत्ता रखता है। स्वप्न और काल्पनिक वस्तु भी मानसिक सत्ता रखती है। यदि मन असत् है, तो उसके साथ चित्त और बुद्धि भी असत् हैं, और फिर सत् भी असत् हो जायगा। ईश्वर की कोई भी वस्तु असत् नहीं, क्योंकि उससे कुछ भी बाहर नहीं। प्रत्येक वस्तु अपना विशेष स्थान रखती है। व्यापक दृष्टि से सबका उचित स्थान प्रकट हो जाता है। मनुष्य का एक अपूर्व स्थान है।

मनुष्य में जड़ और चेतन की एकता है। वह अपूर्ण है, अतः पूर्णता की ओर दौड़ रहा है। उसी में पूर्णता की झलक मिलती है। उसी के अस्तित्व से जड़ की जड़ता और चेतन की चेतनता का आभास होता है। मनुष्य के ज्ञान से ही इस बात का अनुमान होता है कि यह विचित्र संसार प्रत्यक्ष-मात्र से सीमा-बद्ध नहीं, वरन् इसके आगे भी कुछ है।

मनुष्य की आशाएँ और उच्च आदर्श और उसे परिमित की ओर से अपरिमित की ओर मोड़ ले जाते हैं। इन्हीं के द्वारा हमें दीवार के उस पार की झलक मिलती है।

यदि हम पीछे की ओर देखते हैं, तो सहस्रों वर्षों की संचित संपत्ति हमारे लिये प्रस्तुत है; केवल उठा लेने-भर की देर है। यदि आगे की ओर दृष्टि डालते हैं, तो अनेकानेक संभावनाएँ हमारे

लिये विद्यमान हैं। अपने शरीर द्वारा सारे जड़ जगत् से हमारा संबंध है। हमारे ज्ञान और आदर्शों द्वारा पूर्ण अखंड परमात्मा से हमारा योग है। इस संसार में हमारी स्थिति अपूर्व है। समूची चराचर सृष्टि में सर्वापेक्षी पूज्यतम जो सत्ताएँ हैं, उनसे हमारा संबंध है। प्रकृति हमारी माता है, परम पुरुष हमारा पिता है।

फिर निराशा क्यों ?

समष्टि-व्यष्टि

"यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति ;
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा।"

—श्रीमद्भगवद्गीता

"तुम असीम विस्तारज्योति के, मैं तारक सुकुमार ;
तेरी रेखा-रूप-हीनता है जिसमें साकार।

मैं तुमसे हूँ एक, एक है जैसे रश्मि-प्रकाश ;
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों घन से तड़ित-विलास।"

—महादेवी वर्मा

Kadir says:—"As you nevr may find the forest if you ignore the tree so He may never be found in abstractions."

—Kabir's Poems, translated by
Rabindra Nath Tagore

क्या मैं और यह साक्षात् दृष्टिगोचर संसार एक ही हैं? क्या मैं और मेरा पड़ोसी दो व्यक्ति नहीं? उसका धन मेरे लिये वर्जित है, और मेरा धन भी उसे प्राप्त नहीं हो सकता। मेरे और उसके विचारों में भेद है, हम दोनों का अनुभव एक नहीं हो सकता। क्या फिर भी हम और वह एक हैं?

हम और यह दृश्यमान जगत् एक नहीं हो सकते। क्यों? क्या इस संसार में हमारा पालन-पोषण नहीं हुआ? क्या इस संसार की

पृथ्वी से उत्पन्न अन्न हमारे शरीर को पुष्ट नहीं बनाता ? हम केवल शरीरी नहीं, ज्ञान-स्वरूप हैं। बिना ज्ञेय के ज्ञान ही किस प्रकार हो सकता है। भला, बिना कार्य के कर्ता कहाँ ?

समूचे संसार की बात जाने दीजिए, हम और हमारे पड़ोसी एक नहीं हो सकते। हमारे शरीर और हमारे विचार भिन्न-भिन्न हैं।

क्या मेरा व्यक्तित्व मेरे शरीर ही में है ? नहीं, मेरा शरीर पंच-भूतों से पृथक् नहीं। क्या मेरा शरीर मेरे माता-पिता के रज-वीर्य से उत्पन्न नहीं हुआ ? उनका भी शरीर आकाश से नहीं आया, उसकी भी उत्पत्ति इसी प्रकार हुई थी। इस शृंखला में पड़कर मेरे शरीर का व्यक्तित्व कहाँ रहा ? मेरे पड़ोसी के भी शरीर का व्यक्तित्व कहाँ ? क्या पीछे हटते-हटते हम दोनो के शरीर एक ही मूल-शृंखला में बद्ध न हो जायँगे ? क्या कोई आदि पुरुष हमारे शरीर को उत्पन्न करनेवाला नहीं ?

क्या हमारे विचारों की भिन्नता हमारे पार्थक्य का कारण है ? क्या हमारे विचारों का एक कोई मूल-कारण नहीं ? क्या मेरे विचार मेरे ही हैं ? क्या मैंने अपने विचारों को अपने समाज से नहीं पाया है ? क्या हमें और हमारे पड़ोसी को एक ही प्रकृति की पाठशाला में शिक्षा नहीं मिली है ? क्या हमारी और हमारे पड़ोसी की भाषा एक नहीं ? यदि हम दोनो मनुष्य-समाज से बाहर अलग-अलग रख दिए जाते, तो हमारे विचार कहाँ से आते ?

फिर क्या भेद की स्थिति संसार में नहीं ? भेद क्या भ्रम है ? नहीं। यदि भेद भ्रम है, तो यह संसार नीरस है। ऐसा कहने से इसकी स्थिति ही असंभव हो जायगी। भेद के बिना एकता ही भ्रम है। भेद नहीं, तो भला एकता का ज्ञान होना किस प्रकार संभव है ?

भेद ही द्वारा ब्रह्म भी अपनी वास्तविक सत्ता प्रकट करता है।

'एकोऽहं बहुस्यामि ।'' यही नियम सारी सृष्टि में वर्तमान है। एक से अनेक और अनेक होकर भी एक होना, यही उन्नति का मूल-मंत्र है।

भला, एक की अनेकता किस प्रकार? और अनेक होकर भी उनकी एकता कहाँ? सारी सृष्टि का क्रम एक की अनेकता ही से चलता रहता है। 'एकोऽहं बहुस्यामि' यह संकल्प प्रतिक्षण दुहराया जाता है। विचार में पार्थक्य होना कठिन नहीं। पार्थक्य कहीं बाहर से नहीं आता। क्या स्वप्न में एक ही व्यक्ति ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय में विभक्त नहीं हो जाता? क्या मेरे दो अहंकार नहीं हो जाते?

अहंकार ही भेद का मूल है, किंतु वह मुझसे बाहर नहीं। इसी भेद के कारण ज्ञान और विचारों में भेद हो जाता है। इस भेद का अंत नहीं। शाखा-प्रशाखाएँ बढ़ती जाती हैं। विभागों के भी विभाग होते जाते हैं, किंतु प्रत्येक विभाग में पूर्णता की झलक बनी रहती है। इसी में भागों के एकत्व की आशा है। भाग जब तक अपने को पूर्ण के साथ संबद्ध नहीं देखता, तभी तक वह भाग है—यही तो माया है। परिमितता ही को माया कहते हैं। भाग जब पूर्ण के साथ अपना घनिष्ठ संबंध देख लेता है, तब संपूर्ण हो जाता है। यह संबंध क्रिया ही में प्रत्यक्ष होता है। पूर्ण का भाग भी पूर्ण होता है।

भेद और अहंकार संसार की स्थिति के लिये आवश्यक है। भेद ही संसार को सरस बनाता है। भेद से क्रिया की उत्पत्ति होती है। क्रिया में भेद की वृद्धि और क्षय दोनों ही के मूल हैं। अहंकार जब भेद की यथोचित सीमा का उल्लंघन कर जाता है, तभी निंदनीय कहलाता है। अहंकार रखते हुए भी हम अपने को पूर्ण से संबद्ध देख सकते हैं। व्यक्ति होते हुए भी हम और-और व्यक्तियों से मेल

कर सकते हैं—यही व्यक्ति और समष्टि की एकता है, यही बिंदु का समुद्र हो जाना है। हम अपने व्यक्तित्व को रखते हुए भी एक महान् व्यक्ति के व्यक्तित्व में सम्मिलित रह सकते हैं। हमारे रुधिर के कीटाणु पृथक्-पृथक् होते हुए भी हमारे शरीर के व्यक्तित्व में एक हो जाते हैं। हमारे भिन्न-भिन्न विचार हमारे अहंकार के व्यक्तित्व के अंतर्गत हैं। व्यष्टि रूप से भिन्न-भिन्न होते हुए भी समष्टि रूप से हम सब एक हैं। बिना समष्टि के व्यष्टि का अस्तित्व संभव नहीं, और व्यष्टि से बाहर समष्टि कोई पदार्थ नहीं। समष्टि व्यष्टि के समूह से अवश्य अधिक है, क्योंकि समुद्र की तरंग होती है, तरंग का समुद्र नहीं, किंतु परस्पर दोनो एक दूसरे से भिन्न नहीं। वृक्ष वन से अलग नहीं, और जो वन को वृक्षों से बाहर ढूँढ़ता है, उसे वन प्राप्त नहीं हो सकता। अनेक होते हुए भी एक हैं। भेद के बिना एकता नीरस है, और एकता के बिना भेद असंबद्ध और शृंखला-हीन है। भेद बिना एकता किसकी? भेद में ही एकता हो सकती है, और एकता में ही भेद की संभावना है। हमारे भेद में ही हमारी एकता की जड़ है।

फिर निराशा क्यों ?

हमारा कर्तव्य और हमारी कठिनाइयाँ

"हारिए न हिम्मत, बिसारिए न हरि-नाम।"

"Act act in the living present
Heart within and God o'erhead."
—Longfellow

"गतशोको न कर्त्तव्यो भविष्यं नैव चिन्तयेत्;
वर्तमानेषु कार्येषु वर्तयन्ति विचक्षणाः।"

यह सत्ता-सागर एकरस नहीं। इसमें भेद-अभेद दोनो ही का संयोग है। यह संसार विचित्र-विचित्र है, किंतु एक लक्ष्य की ओर जाने का यत्न करता है। यही इसकी एकरसता है। विभ्रता ही इसका गौरव है। इस विलक्षण संसार को मनुष्य साक्षात् नेत्र-रूप होकर देखता है। देख-देखकर सुखी भी होता है, और दुःखित भी।

इस सुविस्तृत सागर में एक ही प्रकार की लहरें नहीं उठतीं। कुछ लहरें प्रवाह अथवा धारा के अनुकूल हैं, और कुछ प्रतिकूल भी। प्रतिकूल तरंगें स्रोत के वेग को रोक नहीं सकतीं, किंतु मंद अवश्य कर देती हैं।

हम लोग भी इन्हीं लहरों में से हैं। हम लोग लहरों पर तैरनेवाले तिनके नहीं, वरन् स्वयमेव लहर भी हैं। सागर का प्रवाह निश्चित करने में हमारा भी कुछ हाथ है। भेद रहते हुए भी

अनुकूलता और सामंजस्य स्थापित करना हमारा काम है। सब लहरों को प्रवाह के अनुकूल बनाकर प्रवाह की गति को निश्चित करना हमारे कर्तव्य से बाहर नहीं। यही है क्रिया द्वारा ज्ञान की पूर्ण से एकता करना। हमारे कर्तव्य ही में हमारी क्रिया और हमारे ज्ञान की भी एकता है।

सत्ता-सागर की गति को ठीक ओर चलाने में योग देना हमारा परम पुनीत कर्तव्य है। इसके द्वारा हम अपनी तथा संसार की क्रियाओं को ईश्वर की इच्छा के अनुकूल बनाकर मर्त्यलोक को स्वर्गलोक में परिणत कर सकते हैं।

संसार में सामंजस्य स्थापित करनेवाली क्रिया की उत्पत्ति कहाँ से है? इस क्रिया का जन्म प्रेम से होता है। फिर प्रेम कहाँ से आया? समग्र संसार को शोभा-संपन्न और आत्मरूप मानने और अपनी नैसर्गिक एकता की प्रेरणा से प्रेम आविर्भूत हुआ। समस्त संसार को शोभामय मानना ही सौंदर्योपासना है। इसी से विश्व-प्रेम का जन्म है, और प्रेम ही सारी क्रियाओं की संचालक शक्ति है।

प्रेम संचालन-शक्ति-संपन्न है सही, पर क्या हम इस महान् कार्य को संपादन करने में समर्थ हैं? क्या सुंदरता के साथ-साथ कुरूपता नहीं लगी हुई है? फिर सौंदर्योपासना कहाँ?

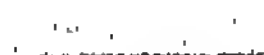
क्या हम इस संसार के प्रवाह को ठीक-ठीक रीति से चला सकते हैं? क्या हम अपूर्ण नहीं? क्या हम पाप-ताप-तप्त नहीं? क्या दुःख-रूपी प्रतिबाधक शिला इस सागर-तल में नहीं? क्या हम भूल नहीं करते? क्या हमें पद-पद पर हानि का सामना नहीं करना पड़ता?

इस कर्मयोग से क्या लाभ? क्या इससे हमारी परिमितता का नाश हो जायगा? फिर हमारा नेता कौन?

ये सारी कठिनाइयाँ ही हमारे गौरव का कारण हैं। कठिनाइयाँ

ही हमारी गति को आगे बढ़ावेंगी। विशाल शिलाओं और पर्वतों से समुद्र का वेग घटता नहीं, वरन् बढ़ता ही है। कठिनाइयों के बिना विजय का सुख और सौभाग्य कहाँ? कठिनाइयों से ही हमारी शक्ति बढ़ती है, हमारा अभ्यास दृढ़ होता है। हम हिम्मत करेंगे, तो ईश्वर भी हमारी मदद करेगा।

फिर निराशा क्यों?



सौंदर्योपासना

"O Lady ! we receive but what we give
And in our life alone doth nature live."
—Coleridge

"समै - समै सुंदर सबै, रूप - कुरूप न कोय ;
जाकी रुचि जेती जितै, तित तेती रुचि होय।"
—बिहारी

जब गगन-चुंबी, तुषार-मंडित पर्वत-शृंगों, वर्षा-वारि-विलोड़ित नदियों, सघन-श्याम मेघ-मालाओं, नवकिसलय-शोभित वृक्षों, नूतन पल्लव और कोमल कलियों से विभूषित लतिकाओं, नीलाकाश के प्रशस्त अंचल पर हीरक-खंड-तुल्य जगमगाते हुए शुभ्र नक्षत्रों और विमल सलिलवाही, कलकलनिनादी निर्झरों को देखकर हमारा मन-मयूर प्रेमोन्मत्त—पुलक-मुकुलित—हो नाचने लगता है, उस समय हमें अपनी और दृश्यमान संसार की एकता का अनुभव होने लगता है। यह शोभामय दृश्यमान जगत, जिसके द्वारा हम अपने सौंदर्य के आदर्श को प्रत्यक्ष कर रहे हैं, हमसे भिन्न नहीं। यदि यह वस्तुतः हमसे पृथक् ही है, तो भला किस प्रकार हमारे चित्त को चकित और चलायमान कर सकता है ?

यह सुंदर संसार जिस आदर्श का अनुगमन कर रहा है, वह आदर्श हमारे आदर्श से भिन्न नहीं। प्राकृतिक दृश्यों द्वारा समष्टि के आदर्श के साथ व्यष्टि के आदर्श की समानता दिखाई पड़ने लगती है। यह दृश्य ही ईश्वर की भाषा है। जो लोग इन दृश्यों

को देखने में उदासीन रहते हैं, वे ईश्वर के माननीय वचनों का निरादर करते हैं ।

सौंदर्योपासना में ही मनुष्य और दृश्यमान जगत् की एकता का सच्चा प्रमाण मिलता है । जब हम कोकिल के कल कूजन में, भ्रमरावलि के मधुर गुंजार में, मछली के स्वच्छ-गंभीर जल में उछलकर विद्युल्लता की-सी चपलता दिखलाने में, मदोन्मत्त गजराज की मद-भरी चाल में, सिंहनी की क्षीण कटि में, मृग-शावक के चंचल और कातर नेत्रों में, कमल और शिरीष-पुष्पों की कोमलता में, रंभा-स्तंभों की स्निग्धता में, हिम और कर्पूर की दिव्य धवलता में, पूर्ण शरदिंदु की सुधामयी शीतलता में, आकाश की निष्कलंक नीलिमा में, उषाकालीन नवीन मेघों की मनोरम लालिमा में, राजहंसों की मंद गति में, कपोत-कपोती की क्रीड़ा-कंपित ग्रीवा में, विद्रुम की अद्भुत अरुणाई में, फल-भार-अवनत रसाल-शाखाओं की नम्रता में, करि-कलभ के कलित कर की कमनीय आकृति में, त्रिविध समीर की अनूठी इठलान और रजतमय शरच्चंद्रिका की मृदुल-मंद मुसकान में, स्त्री और पुरुषों की अलौकिक सुंदरता को आदर्श उपमान-उपमेय-रूप से स्थिर कर प्रेमास्पद वस्तु के मनोहर रूप की प्रशंसा करते हैं, उस समय हम अपनी सौंदर्योपासना से सारे संसार की एकता का परिचय देने लग जाते हैं ।

सौंदर्योपासना द्वारा हम सुंदर वस्तु के अस्तित्व को सार्थक कर अपनी और समूचे संसार की एकता स्थापित करते हैं । किंतु हमें इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि सुंदर वस्तु तभी तक सुंदर रहती है, जब तक हम उससे किसी प्रकार का लाभ उठाने की चेष्टा नहीं करते । जहाँ लाभ उठाने की चेष्टा की गई—बस, सौंदर्योपासना के पवित्र नाभिस्थ आनंद का लाभ हाथ से जाता रहा । जो लोग सौंदर्य की लोभ और संग्रह की दृष्टि

से देखते हैं, उनके हाथ सौंदर्य नहीं आता, और जो सौंदर्य को निःस्वार्थ दृष्टि से देखते हैं, उनके लिये संसार के सारे सुंदर पदार्थ सुलभ हैं। स्वामी रामतीर्थ ने क्या अच्छा कहा है—

"अपने मज़े के ख़ातिर गुल छोड़ ही दिए जब,
रूए-ज़मीं के गुलशन मेरे ही बन गए सब।
ख़ुद के लिये जो मुझसे दीदों की दीद छूटी,
ख़ुद हुस्न के तमाशे मेरे ही बन गए सब।"

क्या मछली पकड़नेवाले शिकारी को मछली उतनी ही सुंदर प्रतीत होती है, जितनी एक सहृदय सौंदर्योपासक को? फूल को पौधे से अलग कर लेने पर हमें अनुभव होता है कि उसका पहले का-सा रूप, रंग, सुगंध और सौंदर्य नहीं रहता। सुंदर वस्तु को अपनी सुंदरता स्थिर रखने में सहायता देना ही सच्ची सौंदर्योपासना है।

यह उपासना अखिल विश्व-व्यापिनी है। इसमें कोई सांप्रदायिक भेद नहीं। यही सच्चा कैथोलिक* धर्म है। इसमें रोमन और एंग्लीकन का भेद नहीं।

इस सच्ची उपासना द्वारा हम उस विश्व-सौंदर्य की झलक पा जाते हैं, जिससे संसार-भर की सुंदर-सुंदर वस्तुओं को अनूठी सुंदरता मिलती है। वही सच्ची स्वर्गीय सुषमा उच्चादर्श रूप से सदा हमारे मानस-मंदिर में विराजमान रहती है। समष्टि और व्यष्टि के आदर्श का मेल हो जाता है। खोई हुई वस्तु—अपनी गाँठ से छुटी हुई अमूल्य मणि—मिल जाती है। सौंदर्योपासना द्वारा जड़ चेतन का रूपांतर दिखाई देने लगता है।

यह शोभामयी सृष्टि हमारे सुंदर स्वप्नों की वास्तविक मूर्ति बन

---

* कैथोलिक का अर्थ है विश्व-व्यापी।

जाती है। समष्टि-व्यष्टि का साम्य सहज ही में हो जाता है। संसार को सौंदर्यमय देखने से संसार हमारे अनुकूल हो हमारी प्रसन्नता का कारण बन जाता है। हमारा कारागार भी हमारा मनोज्ञ विलास-भवन बन जाता है।

फिर निराशा क्यों ?

कुरूपता

"Far around and beyond whatever is exceptional and illustrious in human lifes tretches that which is average and unperceived; all distinctions, all attainments, all signal beauty, skill, wit and whatever a man can exhibit in himself, swim and are lost in that great ocean."

—EDWARD CARPENTER

"दीने दई गुलाब की इन डारन ये फूल।"

– बिहारी

"गुले नेस्त कि ख़ारे न बाशद।"

"भौंरा काला है, कुरूप है, हम हैं सुंदर मत समझो;
उस वसंत का है वह साथी, जिसके तुम कहलाते हो।"

— 'कमलाकर'

सौंदर्य की उपासना करना उचित है, यह सही; पर क्या उसी के साथ-साथ कुरूपता घृणास्पद या निंद्य है? नहीं, सौंदर्य का अस्तित्व ही कुरूपता के ऊपर निर्भर है। सुंदर पदार्थ अपनी सुंदरता पर चाहे जितना मान करे, किंतु असुंदर पदार्थों की स्थिति में ही वह सुंदर कहलाता है। अंधों में ही काना श्रेष्ठ समझा जाता है।

कुरूपता के पक्ष में कुछ और भी कहा जा सकता है। रूपहीन वस्तु ही रूपवान् वस्तु का आधार-शिला है। कीचड़ से ही कमल की उत्पत्ति है, और गुलाब भी कँटीली टहनियों में खिलता है। मोती सीप से पैदा होता है। रत्न खार समुद्र से निकलता है। मणि खानि से निकलती है। गज-मौक्तिक हस्ती के मस्तक से निकलता है। कीट से रेशम उपजता है। शून्य नीलांबर में चंद्रोदय होता है। दुरूह पर्वतों के अंधकारमय गह्वरों में भाँति-भाँति की वनौषधियाँ विद्यमान रहती हैं। बड़े-बड़े बीहड़ जंगलों में सहज सलोने मृग-छौने रहते हैं। इसी प्रकार पुष्पों का प्रादुर्भाव वृक्षों से है, और सघन, सुंदर पल्लवों से सुशोभित शाखाओं की स्थिति स्कंधों और मोटी-मोटी जड़ से है। मनुष्य की स्थिति वनस्पतियों पर है और हरी-भरी लहलहाती वनस्पतियों की स्थिति जल, वायु और मिट्टी के ढेलों पर निर्भर है। भूसी निकल जाने पर चावलों में से अंकुरित होने की शक्ति जाती रहती है।

आपके सुंदर वस्त्र, जिनसे आपकी सुंदरता बनी हुई है, कहाँ से आए? वे मिट्टी के ढेले, जिनसे कपास की उत्पत्ति हुई, क्या बड़े रूपवान् थे? वह गँवारा श्रम-सहिष्णु कृषक, जिसने दिन-रात परिश्रम करके कपास के खेत को उपजाऊ और हरा-भरा बनाया, क्या आप ही की भाँति कोमल और सुकुमार था? क्या वह लोहे की चर्खी (मशीन), जिसमें कपास साफ़ की गई थी, और जिसके द्वारा कपास सूत में परिणत होकर सुंदर वस्त्र रचने के योग्य हुई, काले-काले कोयलों के ढेर से नहीं चलाई गई थी? 'मिल' में काम करनेवाले लोग भी सब-के-सब आप ही की भाँति सुकुमार, सुभग और सुवेशवाले न होंगे। किंतु यदि ये सब कुरूप पदार्थ न होते, तो आपके सौंदर्य की वृद्धि करनेवाले ये सब पदार्थ कहाँ से सुलभ हो पाते?

सत्ता-सागर में दोनो ही की स्थिति है। दोनो ही एक तारतम्य में बँधे हुए हैं। दोनो ही एक दूसरे में परिणत होते रहते हैं। फिर कुरूपता घृणा का विषय क्यों ?

रूप-हीन वस्तु से तभी तक घृणा रहती है, जब तक हम अपनी आत्मा को संकुचित बनाए रखते हैं। सुंदर वस्तु को भी हम इसी कारण सुंदर कहते हैं कि उसमें हम अपने आदर्शों की झलक देखते हैं।

आत्मा के सुविस्तृत और औदार्य-पूर्ण हो जाने पर सुंदर और असुंदर दोनो ही समान प्रिय बन जाते हैं। कोई माता अपने पुत्र को कुरूप नहीं कहती। इसका यही कारण है कि वह अपने पुत्र में अपने आपको ही देखती है। जब हम सारे संसार में अपने ही आपको देखेंगे, तब हमें कुरूप भी रूपवान् दिखाई देगा। यदि ऐसा न भी हो, तो कोई विस्मय नहीं, पर रूप-हीन वस्तु से घृणा तो अवश्य ही जाती रहेगी। मानव-शरीर के ही अंग-प्रत्यंग एक समान सुंदर नहीं होते। फिर शरीर का ही सौंदर्य सौंदर्य का अंतिम परिमाण नहीं, आत्मा का सौंदर्य भी गणनीय है। परिश्रम करनेवालों के श्रम-कण नायक-नायिकाओं के सात्त्विक भाव-जन्य श्रम-कणों से अधिक सुंदर होते हैं। वे उनकी ईमानदारी और श्रम-सहिष्णुताजन्य आंतरिक सौंदर्य के परिचायक होते हैं। किसान के फटे-मैले वस्त्रों में उसकी कर्तव्यपरायणता, उदारता और कर्मवीरता का सौंदर्य झलकता है।

रूप-हीन पदार्थ निरादर का विषय नहीं—तिरस्कार का पात्र नहीं। वह भी उसी सुविशाल सत्ता-सागर का एक कण है, जिसका सुंदर पदार्थ है। रूपवानों का उदय भी कुरूप पदार्थों से ही होता है। मिट्टी और खाद के कण सुंदर-सुरभित सुमनों में परिणत होते रहते हैं। अतिशय कर्कश, टेढ़े और रूखे पत्थरों से ही मनोमुग्धकारिणी,

हृदयग्राहिणी एवं हृदय-तोषिणी मूर्त्तियाँ रची जाती हैं। जो वस्तु आज कुरूप है, वही कल रूपवान् बन जायगी।

फिर निराशा क्यों ?

विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा

"वास उसी में है विभुवर का, है बस सच्चा साधु वही,
जिसने दुखियों को अपनाया, बढ़कर उनकी बाँह गही।
आत्म-स्थिति जानी उसने ही, पर-हित जिसने व्यथा सही;
परहितार्थ जिनका वैभव है, है उनसे यह धन्य मही।"

—मैथिलीशरण गुप्त

"जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है,
प्यारी! सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है।"

—प्रिय-प्रवास

"मौन, अहिंसा, प्रेम की तिरबेनी अन्हायँ,
ते जन अग जग में सुरग पग-पग ही पै पायँ।"

— दुलारे-दोहावली

संसार के मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग इत्यादि सभी प्राणी स्वहित-साधन में तत्पर रहते हैं। अपने पर प्रेम करना किसी से सीखना नहीं पड़ता। अपने लिये सब-के-सब उदार ही हैं। हाँ, यह ठीक है कि मनुष्य स्वभाव से ही अपने ऊपर प्रेम करता है, किंतु ऐसे लोगों की संख्या बहुत थोड़ी है, जो अपने अतिरिक्त और किसी व्यक्ति को प्यार न करते हों। मनुष्य अपने हित-चिंतन के साथ दूसरे का भी हित-चिंतन कर ही लेता है।

क्रूरातिक्रूर मनुष्य के हृदय-क्षेत्र से दया के कोमल बीज समूल नष्ट नहीं हो जाते। कभी-कभी समय पाकर वे अंकुरित हो आते हैं। निष्ठुर व्याध दिन-भर भीषण हत्या-कांड में प्रवृत्त रहता है— किसलिये? अपने और अपने बाल-बच्चों के भरण-पोषण के निमित्त।

अपने प्यारे बच्चों के लिये तो निष्करुण व्याध का भी हृदय अत्यंत कोमल हो जाता है। ऐसे-ऐसे नर-पिशाच, जिनका हृदय कभी किसी के लिये दयार्द्र और प्रेम-प्लावित नहीं हुआ, शुष्क वैज्ञानिक अथवा अर्थशास्त्र-विशारद पंडितों के विभीषिका-पूर्ण मस्तिष्क में घुसते हों, तो हों, किंतु इस प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् में तो वस्तुतः कहीं ऐसे पामर-पतित नहीं दिखाई पड़ते।

भयंकर बाघ भी बाघनी पर आसक्त हो उसके लिये अपनी सारी भयंकरता भूल जाता है। काल-रूप सर्प अपनी प्यारी नागिन के लिये अपनी दुर्दमनीय विषैली शक्ति भूलकर कोमल कलेवर धारण कर लेता है। ऐसा कोई नहीं, जो किसी-न-किसी काल में अपना व्यक्तित्व न छोड़ता हो। जहाँ व्यक्तित्व गया, वहीं प्रेम की विजय-ध्वनि हुई। सभी विश्वव्यापी पवित्र प्रेम के अधीन हैं।

प्रेमदेव के वशीभूत होने पर फिर व्यक्तित्व कहाँ? प्रेम के प्रज्वलित, पुनीत पावक में पार्थक्य का नाश हो जाता है। जहाँ प्रेम है, वहीं व्यक्तित्व का नाश है। प्रेम में ही आत्मा के केंद्र का विस्तार दिखाई पड़ता है।

जहाँ एक बार व्यक्तित्व का त्याग हुआ, बस फिर कोई सीमा बाँधना वृथा है। जब अपने व्यक्तित्व का नाश हो गया, तब सारे भेद भी उसी के साथ छिन्न भिन्न हो गए।

प्रेम का अर्थ ही है—व्यक्तित्व का परित्याग। फिर जहाँ यह ज्ञान हो कि सब स्थानों में एक ही पवित्रात्मा का प्रकाश अथवा विकास है, वहाँ प्रेम—रुके हुए जल-स्रोत की भाँति—सारे बंधनों को तोड़-फोड़कर चारो ओर फैलने लगता है। प्रेम का शुद्ध स्रोत अथाह है। प्रेम की स्वाभाविक वृद्धि विश्व-प्रेम द्वारा संभव है। भौतिक पदार्थों की भाँति प्रेम की परिमिति नहीं। व्यापकता के साथ इसकी तीव्रता घटती नहीं, वरन् उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

विश्व-प्रेम उन्हीं के लिये कठिन एवं दुस्साध्य है, जो अपनी आत्मा को पंचमहाभूतों का ही गुण मानते हैं। प्रकृतिवाद व्यक्तित्व से बाहर नहीं आ सकता। किंतु प्रकृतिवादी भी व्यक्तित्व से बाहर जाने का यत्न किया करते हैं। वे भी पर-हित-साधन के पक्षपाती हैं। प्रकृतिवादियों की आत्मा हमारी आत्मा से भिन्न नहीं। जब विस्तार ही आत्मा का गुण है, तब फिर आत्मा के विस्तार को कौन रोक सकता है? जादू वही है, जो सिर पर चढ़कर बोले।

क्या हमें प्रतिक्षण इस बात के प्रमाण नहीं मिलते कि हम इस क्षुद्र शरीर में संकुचित नहीं? हमारे आदर्श हमें अपनी परिमितता से बाहर ले जाते हैं। हमारी देह और इंद्रियाँ एकदेशीय हों, तो हों, पर हमारी आत्मा में एकदेशीयता का लेश भी नहीं।

आत्मा का विस्तार जितना बढ़ाओ, उतना ही बढ़ता जाता है। जैसे-जैसे हमारी औदार्यमयी सहृदयता की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे-ही-वैसे हमारी आत्मा का वृत्त भी बढ़ता जाता है। साधारण मनुष्य के लिये उसका घर ही उसकी आत्मा है। जाति-सुधारक के लिये जाति और राष्ट्र-निर्माता के लिये राष्ट्र ही उसकी आत्मा है। देशानुरागी की आत्मा निज परिवार, कुटुंब और जाति में ही संकुचित नहीं रहती। उसकी स्वार्थ सिद्धि तो देश के परम कल्याण में है। देश का ऐश्वर्य उसका ऐश्वर्य है। जिस बात से देश का मुख कलंकित हो, उसी बात से उसे भी दारुण दुःख होता है। जिससे देश का मुख उज्ज्वल हो, लांछन छुट जाय, मस्तक उन्नत हो, वही उस देश-भक्त के परमानंद का प्रधान कारण होता है। मनुष्य-मात्र की हित-कामना करनेवाले का आत्मविस्तार देश-हितैषी की आत्मा के विस्तार से भी वृहत् है। फिर प्राणिमात्र से अविरल प्रेम करनेवाले महापुरुष की आत्मा का तो कहना ही क्या। वह तो समष्टि की आत्मा से एक हो जाती है। केंद्रभूत आत्मा के

इस का विस्तार जितना ही बढ़ता चला जाय, उतनी ही अधिक आनंदामृत की वृष्टि होगी—यह मिट्टी की काया कंचन की हो जायगी—इसी धरती पर स्वर्ग उतर आवेगा। आत्मा का विस्तार केवल इस बात को जान लेने से नहीं बढ़ता कि हम सब एक ही हैं। यह ज्ञान विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा के लिये परमावश्यक है, किंतु इसका प्रत्यक्षीकरण अथवा स्पष्टीकरण बिना प्रेम और सेवा के नहीं होता।

विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा द्वारा ही व्यक्तित्व का जटिल बंधन छूट सकता है। सेवा द्वारा ही अपनी आत्मा का पूर्ण विस्तार जाना जा सकता है। विश्व-प्रेम से ही समष्टि-व्यष्टि का एकीकरण हो सकता है। विश्व-सेवा द्वारा ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है। प्रेम और सेवा द्वारा व्यक्ति की परिमितता जाती रहती है। संकोच का अकुंचित विस्तार हो जाता है—संकीर्णता के स्थान में प्रशस्तता का राज्य हो जाता है। सत्सेवा के सहारे हम सच्चे विजयी बन सकते हैं—सारे संसार को अपना बना सकते हैं—कलियुग को कृतयुग में पलट सकते हैं।

फिर निराशा क्यों?

अपूर्ण की पूर्णता

"सच है, कण का पार न पाया, बन बिगड़े असंख्य संसार,
पर न समझना देव ! हमारी लघुता है जीवन की हार।
चिर तृप्ति कामनाओं का कर जाती निष्फल जीवन ;
बुझते ही प्यास हमारी पल में विरक्ति बन जाती।"

—महादेवी वर्मा

"What I aspired to be
And was not comforts me."

—ROBERT BROWNING

मनुष्य अपूर्ण है, क्या यह उसके लिये लज्जा, अपमान और निराशा का विषय है ? क्या मनुष्य परिमित है ? और, क्या परिमितता दोषों की गणना में आने योग्य है ? मनुष्य कैसे परिमित हो सकता है ? यदि मनुष्य परिमित है, तो अखिल विश्व में कोई अपरिमित वस्तु नहीं। कारण, परिमित परिमित ही से परिमित हो सकता है। माना कि मनुष्य परिमित है, अतः अपूर्ण भी है, तो क्या अपूर्णता में कोई विशेषता नहीं ? हमारी अपूर्णता ही हमारी विशेषता है। इसी का हमें गर्व है—इसी में हमारा गौरव है। अपूर्णता ही में पूर्ण वृद्धि और तृप्ति की आशा है। बद्ध होने पर ही मोक्ष होता है। अपूर्णता ही जीती-जागती वस्तु है।

अपूर्ण की संभावनाएँ अपरिमित हैं। वे चाहे जो कुछ हो सकती हैं। अपूर्ण की अपरिमित संभावनाओं में उसकी पूर्णता है। अपूर्ण होकर भी जो अपने को सत्कर्म-सद्धर्म-परायण बनाते हैं, उन्हीं का समुचित सम्मान किया जाता है। इसी कारण मनुष्य-योनि को सर्व-श्रेष्ठ कहा है। उसकी अपूर्णता ही से सत्कर्मों का मूल्य बढ़ जाता है। वह सहज ही में परमगति प्राप्त कर लेता है। इसी कारण देवता भी नर-शरीर धारण करने के लिये लालायित रहा करते हैं। औरों का तो कहना ही क्या, स्वयं परमात्मा भी अपूर्ण का महत्त्व बढ़ाने के अर्थ संसार में अवतीर्ण होते रहते हैं। भगवान् अपनी नर-लीलाओं द्वारा अपूर्ण की अमित संभावनाओं को संसार पर प्रकट करते रहते हैं। पूर्ण का व्यंजन अपूर्ण द्वारा ही हो सकता है। अपूर्ण ही पूर्ण की भाषा है। कालातीत काल में प्रकट हो काल को वास्तविक सत्ता देता है।

अपूर्ण पूर्ण का ही रूपांतर है। अपूर्णता में ही पूर्ण की नित्य नूतन मूर्तियाँ दिखाई पड़ती हैं। अपूर्ण अपूर्ण नहीं, वरन् पूर्ण का ही चलता हुआ रूप है।

शुक्ल-पक्ष की द्वितीया का चंद्रमा अपूर्ण है। उसकी सब वंदना करते हैं। इसका क्या कारण है? उसकी अपूर्णता ही उसके जगद्-वंदनीय होने का हेतु है। अपूर्णता में उत्तरोत्तर वर्द्धमान होने की संभावना है। यह संभावना ही अपूर्ण के गौरव को बढ़ाती है। इस गरिमा-पूर्ण अपूर्णता को प्राप्त कर हमें अपना जीवन धन्य समझना चाहिए। यद्यपि इस जीवन में सुख-दुःख, सफलता-असफलता, लाभ-हानि, संयोग-वियोग के जोड़े लगे हुए हैं, तथापि यह उन्नत्युन्मुख होने के कारण सब जीवनों से श्रेष्ठ है। हमारी अपूर्णता में स्थिरता का दोष नहीं। हमारे उन्नति-पथ का ओर-छोर नहीं। इसमें सदा नवीन दृश्य दिखाई पड़ते रहते हैं। इस कारण इस

पथ की अनंतता हमारे उत्साह को घटानेवाली नहीं। हमारे अपूर्ण चंद्र के लिये कभी पूर्णिमा नहीं आती, और न इसे निष्क्रियता का राहु ही ग्रस सकता है। हमारे लिये सदा वर्द्धमान शुक्ल-पक्ष है।

फिर निराशा क्यों ?

पुनीत पापी

"Hate sin and not the sinner."

"जो सहि दुख पर-छिद्र दुरावा ,
वंदनीय तेहि जग यश पावा ।"

—तुलसीदास

"खलः सर्षपमात्राणि परच्छिद्राणि पश्यति ;
आत्मनो बिल्वमात्राणि पश्यन्नपि न पश्यति ।"

क्या हम पापी नहीं ? फिर हमसे दूसरे की भलाई होने की क्या संभावना ? हम किस प्रकार ममता-सागर की भांति औरों अपने में योग दे सकते हैं ?

वेद, शास्त्र, पुराण, स्मृति आदि सभी मुक्त कंठ से अवश्य पापों से बचने की आज्ञा देते हैं, किंतु पापी को त्याज्य नहीं बताते । कौन ऐसा है, जो पापी नहीं ? जब सभी लोग पाप-पंक में फँसे हुए हैं, तो कौन किससे घृणा कर सकता है ? कौन किसका परित्याग कर सकता है ?

एक दूसरे को घृणा की दृष्टि से देखकर हम इस भयंकर पाप-पंक से बाहर नहीं निकल सकते । घृणा करने से हमारी शक्ति कम होगी । एक दूसरे के साथ सहृदयता से ही हमारे पाप-पंक से मुक्त होने की संभावना है ।

हम पापी हैं, हमें पापियों को नीच न समझना चाहिए । जब हम पाप के तीव्रतम ताप से तप्त होते हुए भी उससे विमुख नहीं होते, तब हमें पापियों से मुख मोड़ने का क्या अधिकार ? ऐसा

कौन-सा पाप है, जो हम नहीं कर सकते, फिर हम पापियों से अपने को किस आधार पर अच्छा समझें ? क्या हममें कोई दुर्बलता नहीं ? जब हम अपनी दुर्बलता पर दूसरों को हँसते हुए देखना पसंद नहीं करते, तो दूसरों की दुर्बलता पर क्यों हँसें ?

पापी लोग उनकी अपेक्षा अच्छे हैं, जो अपने को पूर्ण समझते हैं। ऐसे लोग अपनी उन्नति का द्वार सदा के लिये बंद कर चुके हैं। उनके जीवन-नाटक के अभिनय में अंतिम बार यवनिका-पतन हो चुका है। अब उस नाट्यशाला के रंगमंच पर कोई मनोज्ञ दृश्य न दिखाए जायँगे। उनकी शिक्षा शेष हो चुकी। वे अपना समावर्तन-संस्कार करा चुके। वे अब पीछे ही हटेंगे, आगे न बढ़ेंगे। न तो वे अपना सुधार कर सकते हैं, और न उनसे दूसरे के सुधार की आशा है। वे लोग हमारे जैसा नहीं बन सकते। हमारा जैसा हमसे बाहर नहीं हो सकता।

हम पापी लोग समाज के गौरव हैं। मनुष्य ही एक ऐसा जीवधारी है, जो पाप कर सकता है। पशु-समुदाय न पाप करता है, न पुण्य। देवगण केवल पुण्य-ही-पुण्य करते हैं। हम लोग पाप और पुण्य दोनो ही करते हैं। पाप करने की संभावना होते हुए पुण्य करना ही मनुष्य-श्रेष्ठता का कारण है।

मानव-समाज में पापियों की स्थिति मनुष्य की महती स्वतंत्रता की सूचक है। मनुष्यों ने अपनी स्वतंत्रता का दुरुपयोग अवश्य किया, पर यदि दुरुपयोग की संभावना न होती, तो सदुपयोग ही से क्या लाभ होता, और फिर हमारी स्वतंत्रता किस बात की ? जिस बात की संभावना है, उसका होना भी कोई आश्चर्य नहीं। घुड़सवार ही गिरते हैं, घुटनों के बल चलनेवाले बच्चे क्या गिरेंगे ? मनुष्य ही पाप करते हैं, पशु-पक्षी, कीट-पतंग, नदी-पर्वत, वृक्ष-लता, ईंट-पत्थर आदि भला क्या पाप करेंगे ?

वे लोग, जो अपने को पापी समझते और इस कारण दूसरे के साथ सदा नम्र भाव से बर्तते हैं, अहम्मन्य पुण्यात्माओं से कहीं अच्छे हैं। उनका दर्शन परम पुनीत है। उन्हें देखते ही हमारे हृदय में मनुष्यत्व के सद्भावों का अभ्युदय होता है।

जो लोग अपने को पापी समझते हैं, उन्हीं से समाज के सुधार की पूरी-पूरी आशा है। वे ही लोग पापियों से मिलकर पापियों के पुनरुत्थान में साहाय्य दे सकेंगे। पाप के दलदल से निकलना एक व्यक्ति का काम नहीं, इसमें सहकारिता की आवश्यकता है। ऊपर की चढ़ाई कठिन है। सबको साथ लेकर चलना ही श्रेयस्कर है।

हम गिर गए हैं। यह हमारे लिये कोई निराशा का विषय नहीं। गिरकर अधीर हो पड़े रहना लज्जा का विषय अवश्य है, किंतु न गिरनेवाले से गिरकर उठनेवाला ही श्रेष्ठ है। वह एक बार गिर चुका है—जीवन-यात्रा के पथ को दुर्गम बनानेवाले गहरे गड्ढों और बड़ी-बड़ी झाड़ियों को पहचान चुका है—अतएव सँभलकर सावधानी से चलेगा।

हमारा पिछला जीवन बुरा है, यह हमारे भय का कारण नहीं। यदि हम अगले जीवन को सुधार सकते हैं, तो हमारा सारा जीवन सुधर जायगा। गया वक्त भी फिर हाथ आ जायगा।

हमारा जीवन बन रहा है। अभी सुधार का सुअवसर मिला है। अपनी भूल को भूल मानने में अभी बहुत देर नहीं हुई। यदि हम गिरकर उठेंगे, सँभलेंगे, सुधरेंगे, तो हमारा सुधार चिरस्थायी होगा। हमारे अनेक साथी हैं। यदि उन्हें हम अपने साथ ले चलने की कोशिश करेंगे, तो दुर्गम मार्ग भी सुगम बन जायगा—मार्गस्थ सभी विघ्न-बाधाएँ हट जायँगी, हम उनके साथ सुख-

पूर्वक चलते चलेंगे, और वे हमारे साथ अग्रसर होते जायेंगे। हमारी सहायता करने में वे हाथ बटायेंगे, और उनकी सहायता करने में हम तन, मन और धन समर्पण करेंगे। हमारा दुर्गम पथ सुगम हो जायगा।

फिर निराशा क्यों ?

स्वयंभू सुधारकों का सुधार

"यदा किञ्चिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवम्
तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः ;
यदा किञ्चित्किञ्चिद्बुधजनसकाशादवगतम्
तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः ।"

भर्तृहरिः

"पर-उपदेश कुशल बहुतेरे ;
जे आचरहिं, ते नर न घनेरे ।"

—तुलसीदास

"आत्मानमेव प्रथमं देशकालगुणसमन्वितम् ;
कुर्वीत गुणसंयुक्तं ततः शेषपरीक्षणम् ।"

—कामंदकीय नीतिसार

"Physician ! heal thyself."

हम दरिद्र हैं । हम घृणित हैं । हम पद-दलित हैं । हम दूसरों की दया के भूखे रहते हैं । सब लोग हमसे बातचीत करना पुण्य का काम समझते हैं । हमारे सुधार के लिये सभा-सुसाइटी करते हैं । हम किसका सुधार कर सकते हैं ?

सुधार किसका ? अपना और अपने सुधारकों का । हम गिरे हुए हैं । हम अपने सुधारकों से कैसे बढ़ सकते हैं ? क्या हमारे सुधारकों में भी सुधार की आवश्यकता है ? हाँ, हमारे सुधारक हमसे गिरे

हुए हैं । वे समझते हैं, वे ही बड़े विचारवान् हैं । वे समाचार-पत्रों को पढ़ते हैं, क्लब में बैठकर योरपियन भीषण संग्राम और अमेरिका के अंतर्जातीय व्यवसाय पर सम्मति दे सकते हैं, और प्राप्त सम्मतियों का समर्थन भी कर सकते हैं । वे सात समुद्र पार की बात जानते हैं, किंतु उन्हें यह नहीं मालूम कि उनके नौकर के घर में कितने बच्चे हैं, और वे किस प्रकार अपना जीवन-निर्वाह कर रहे हैं । वे योरपियन महायुद्ध की रोमांचकारी घटनाएँ सुनते हैं, किंतु एक भूखे कंगाल के साथ दारिद्र्य-दैत्य का घोर युद्ध होने की हृदयद्रावी बात सुनने में उन्हें सिर-दर्द हो जाता है ।

हमारे सुधारक स्वतंत्रता की डींग मारते हैं, किंतु उनमें से बहुतेरे सामाजिक जटिल बंधनों से बाहर होने में सर्वथा असमर्थ हैं । गर्मी बरदाश्त करेंगे, परंतु कपड़े नहीं उतार सकते । नौकर नंगा फिरेगा, आप कपड़े पहनेंगे । भूखे दुखियों को खिलाने के लिये तो नितांत निर्धन बन जायँगे, पर क्लब और पार्टी में खाने-खिलाने के समय कुबेर के बड़े भाई बन जाते हैं । अपनी स्वार्थ-सिद्धि के हेतु नौकरों से झूठ बुलवाना अथवा अन्याय और कुनीति-पूर्ण बातें कहलाना अत्यंत साधारण बात समझते हैं, और जब वह नौकर अपने लिये झूठ तथा दुर्नीति के वाक्य बोलता है, तब दंड देने में तनिक भी संकोच नहीं करते ।

समाज-सुधारक बनते हैं, किंतु एक नीच मनुष्य से बाज़ार में यह नहीं पूछ सकते कि "भाई ! आपके घर कुशल-मंगल तो है ?" पुण्यात्मा बनते हैं, किंतु पापी से हृदय-शून्य व्यवहार करने में लज्जित नहीं होते । जाति-पाँति का भेद नहीं मानते, किंतु धोबी, धीवर और चाबुक से अपशब्द कहे बिना मुख नहीं खोलते ।

अर्थ-शास्त्र के पंडित बनते हैं, किंतु कभी खेतों में जाकर नहीं देखते कि किस तरह के कठिन परिश्रम से अर्थ पैदा होता है ।

पूँजीवाले बनते हैं, किंतु असली पूँजी बनानेवालों का सलाम तक नहीं लेते।

अँगरेज़ी फ़िलासफ़ी और भारतीय दर्शनों का मनन-मथन करके विविध भाँति के अनुसंधान करते हैं, किंतु एक निपट दरिद्र के शुद्ध अगाध हृदय में बैठकर वहाँ बिखरे हुए मोती नहीं उठाते—उस चित्त-विकार-विगत हृदय में पैठकर खोज नहीं करते। दर्शन-शास्त्र का पाठ करते हैं, पर संसार के नश्वर पदार्थों में अविनाशी परमात्मा का दिव्य दर्शन नहीं करना चाहते। और, यदि संसार को नश्वर एवं मिथ्या ही समझते हैं, तो पर-हित-हेतु अपना स्वार्थ समर्पण नहीं कर सकते। नाख़ून के अग्रभाग से अधिक बलिदान नहीं कर सकते। सिर कटाना तो दूर रहा, सिर के बाल कटाने में भी संकोच करते हैं।

साहित्य-सुधारक कहलाने के गौरव से गर्वित हैं, पर किसी मनुष्य के साथ मधुर-मंजुल संभाषण करके उसके कलुषित हृदय में घिरी हुई भीमांधकार की घटा हटाकर उसमें उत्साह और विवेक की विमल ज्योति जगाना नहीं जानते। शायद वे स्वयं अपने हृदय को भी प्रेम-प्रदीप से आलोकित करने का प्रयत्न नहीं करते। बड़े भारी रत्न-परीक्षक बनते हैं, किंतु जीते-जागते, जगमगाते हुए रत्नों का दिन-रात तिरस्कार करते रहते हैं। स्वतंत्रता की दुहाई देंगे, किंतु स्वयं अपनी वासनाओं के दास बने रहेंगे। स्वयं आदर चाहेंगे, किंतु दूसरों का आदर न करेंगे। अहा, इन बड़ों की क्षुद्रता! अहो, धिग्वैषम्यं लोकव्यवहारस्य!! क्या हम इनसे अच्छे बन सकते हैं? अवश्य। हममें क्या विशेष गुण है? हमें दुःख और निर्धनता की पुनीत पाठशाला में श्रमशीलता, स्नेह और सहृदयता की शिक्षा मिल चुकी है। अब हमें जो कुछ शिक्षा मिलेगी, उसे हमारी पूर्वा-र्जित शिक्षा पावन बना देगी। हम दुखियों का दुखड़ा समझेंगे। कभी किसी को नीच न समझेंगे।

हमें अपने सुधार के लिये विशेष धन की दरकार नहीं। हमें नवीन पद्धति की शिक्षा के लिये भव्य भवनों तथा बिजली के पंखों की आवश्यकता नहीं। हमें तो ज़मीन ही पर बैठने का शौक है। पेड़ की डालियों से समता करनेवाली टेढ़ी-सीधी कुर्सियों की आवश्यकता नहीं। हमारे वास्ते बिजली की चमकीली रोशनी की भी दरकार नहीं। प्रेम की प्रदीप्त प्रभा से ही हमारे घरों में प्रकाश छा जायगा। प्रदीप्त भवन और अंधकारमय हृदय से क्या लाभ ? हमें हाथ से काम करने में कुछ लज्जा नहीं आती। हमें सेवक की चाह नहीं। हम स्वयंसेवक बनना परम धर्म समझेंगे। 'स्वयं दासास्तपस्विनः' स्वेच्छा-सेवक बनकर अपने को गौरवान्वित समझेंगे। सत्यमय, सरल और निर्भय जीवन एवं समता-भाव और परिश्रम का गौरव स्वीकार करने में ही सुधार का मूल-सूत्र है।

हमारे सुधार से हमारे सुधारकों का भी नेत्रोन्मीलन हो जायगा। हम अपने सुधार द्वारा सबका सुधार कर सकेंगे। हमारे सुधारक भी यदि यह शिक्षा ग्रहण कर लें, तो देश का कल्याण होने में विलंब न होगा। हम अपने सुधारकों के सुधारक बन सकते हैं।

फिर निराशा क्यों ?

दुःख

"न हि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते ।"

—कालिदास

"सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते
घनान्धकारेष्विव दीपदर्शनम् ।"

—मृच्छकटिक

"इस दुख में पाओगी सुख की धुँधली एक निशानी ;
आहों के जलते शोलों में तुम्हें मिलेगा पानी ।

❀ ❀ ❀

थी प्रातः की अरुण उषा में अंधकार की रेखा ;
काल - चक्र के महाप्रलय में बस इतना ही देखा ।"

—भगवतीचरण वर्मा

"आपदः सन्तु नः शश्वधासु संस्मृयते हरिः ।"

"Then welcome each rebuff
That turns earth's smoothness rough
Each sting that bids nor sit nor
stand but go.
Be our joys three parts pain !
Strive and hold cheap the strain
Learn, nor account the pang ; dare
never grudge the thro'b."

—Browning

हाय दुःख ! तुझसे अभिभूत एवं पीड़ित होकर हम लोग किस-किसको बुरा नहीं कहते, और किस-किसके शत्रु नहीं बनते। तुझसे बचने के लिये किस-किस के साथ अनर्थ और अन्याय नहीं करते। दुःख की आत्यंतिक निवृत्ति ही मनुष्य का परम पुरुषार्थ है। तुझसे दार्शनिक पंडित भी डरते हैं। तेरे अनेक रूप हैं। प्रत्येक मनुष्य के लिये तू विशेष रूप धारण कर व्यक्त होता है किंतु तेरा स्वागत करना विरले ही जन जानते हैं। लोग पूछते हैं, तुझसे क्या लाभ ? तेरा स्वागत क्यों करें ? तुझमें क्या अनोखा गुण है ? किंतु वे लोग इस बात से अनभिज्ञ हैं कि तू जगत् में एक महती संचालन-शक्ति है। तेरे ही साक्षात्कार से ईश्वर की अपरोक्षानुभूति होती है। तेरा स्वागत करना वीर पत्नी द्रौपदी जानती थी। वह सांत्वना देने आए हुए कृष्ण भगवान् से कहती है कि विपत्तियाँ बार-बार आवें, क्योंकि उनके कारण आपके पुनीत दर्शन होते हैं। दुःख में ही ईश्वर याद आता है। तू धन-मदांधों का ज्ञानांजन है, अतः तू जगत् का परम गुरु है। तेरी मैत्री में सांसारिक संबंध के सत्यासत्य का निर्णय हो जाता है। कहा भी है—"धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी; आपति-काल परखिए चारी।" इसलिये तू ही मनुष्यत्व की एकमात्र सच्ची कसौटी है। तेरी शिक्षा के प्रभाव से दया, सहिष्णुता, स्नेह, सहृदयता एवं वैराग्य आदि सद्गुणों का आविर्भाव होता है। तू कुलिश-कर्कश हृदय को द्रवीभूत करके कोमल, कमल-सरीखा बना देता है। तेरी ही प्रेरणा से निर्दय दयालु, आसक्त विरक्त, कायर शूरवीर और अधीर धैर्यवान् बन जाता है। करुण-रस पूर्ण काव्य पढ़ने से दुःख अवश्य होता है, किंतु कोई उस दुःख से नहीं अघाता। उस दुःख से जो चित्त की शुद्धि है, वह आँसुओं के मोल में सस्ती है। लोग रुपया ख़र्च करके भी दुःखांत नाटक में अश्रु-धारा बहाना पसंद करते हैं। किस अर्थ ? अपने हृदय के मानुषीय भावों की पुष्टि के

लिये ही इतना कष्ट सहाया जाता है। वियोग के दुःख में ही प्रेम की पूर्ण प्रतीति होती है। वियोगी लोग संसार-भर के सुख के लिये भी अपने वियोग-जन्य दुःख को नहीं छोड़ना चाहते। विरहिणी ब्रजांगनाओं को वियोग-दुःख से छुड़ाने के लिये उद्धवजी योग का उपदेश देते हैं, किंतु उन्हें यही सूखा उत्तर मिलता है—"ऊधो, जोग-जोग हम नाहीं।" उन्हें वियोग में ही आनंद मिलता है। सुखवादी चाहे जो कुछ कहे, मनुष्य को दुःख से स्वाभाविक घृणा नहीं।

हे सर्वगुणशाली दुःखदेव! हम तेरे शुभागमन से किंचिन्मात्र विचलित नहीं होते। हम तुमसे डरते भी नहीं, क्योंकि तू हमारा आत्मज है। तेरे जन्म से भावी सुख की पूर्ण आशा है। दुःख की पवित्र अग्नि में हृदय-दौर्बल्य, मनःक्लैब्य, राग-द्वेष, ईर्ष्या-अहंकार और क्रोध आदि विषम दुर्गुणों का दहन हो जाने पर हम तप्त कंचन की भाँति दैवी प्रभा से चमकने लगेंगे। दुःख-दावानल में दग्ध होकर विकार का बीहड़ वन भस्म हो जायगा, और हमारी विशुद्ध आत्मा अमूल्य मणि की भाँति देदीप्यमान हो जायगी। जिससे हम भयभीत होते हैं, वही हमारा परम हितेच्छु, प्रिय सखा है। दुःख ही हमारे विकास का साधक है—हमारे अभ्युदय का बलवान् प्रेरक है।

फिर निराशा क्यों?

भूल

"नात्मानमवमन्येत पूर्वाभिरसमृद्धिभिः ;
आमृत्योः श्रियमन्विच्छेन्नैनां मन्येत दुर्लभाम् ।"

—मनुस्मृति (४।१३७)

"To err is human."

"Mistakes are but the preludes to their own destruction."

—Tagore

ऐ भूल ! मानव-जाति से तेरा घनिष्ठ संबंध है । साधारण मनुष्य अपने छोटे-मोटे कार्यों में भूल करते हैं । महान् पुरुष भी अपने महत्कार्यों के संपादन में भूल कर बैठते हैं । भूल से कोई भी खाली नहीं । दृष्टि में भूल, सुनने में भूल, विचारने में भूल, समझने में भूल, कर्तव्य-पालन में भूल और अनेक साधारण कार्यों को संपन्न करने में भी भूल । अरी भूल ! भिन्न-भिन्न रूप से तू मानव-समाज में व्याप्त हो रही है । फिर मनुष्य का गौरव कैसा !

"मनुष्य भूल करता है, अतः वह निम्न है, नीच है, उसकी बातों का विश्वास नहीं," ऐसा विचार करना बड़ी भूल है । केवल यही एक ऐसी भयंकर भूल है, जो अमार्जनीय है ।

भूल ही मनुष्य का गौरव है । भूल भी केवल मनुष्य ही कर सकता है—मशीन या जानवर नहीं कर सकते, जिनके लिये एक मार्ग के अतिरिक्त और कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है । मनुष्य के लिये अनेक संभावनाएँ हैं । उसका दृष्टि-क्षेत्र संकुचित नहीं ।

उसके लिये सहस्र-सहस्र मार्गों के द्वार उन्मुक्त हैं, एक से-एक उत्तम मार्ग की ओर जाने की संभावना रहती है।

भूल ही से इन भिन्न-भिन्न मार्गों की यथार्थ उपयोगिता का ज्ञान होता है। भूल ही द्वारा अनिश्चित ज्ञान निश्चित होता है। भूल ही द्वारा स्वप्न भी वास्तविक सत्ता में परिणत होता है। मनुष्य-जाति की उन्नति का विकास भूल ही के इतिहास में है। भूल ही द्वारा मानव-जाति की नई-नई संभावनाओं की सूचना मिलती है। भूल ही द्वारा बंद राहों के फाटक खुल जाते हैं। भूल अज्ञान नहीं। भूल ही असली ज्ञान की प्रथम श्रेणी है, भूल अल्पज्ञान है। हम जान-बूझकर भूल नहीं करते। अपनी जानकारी-भर में सभी ठीक किया करते हैं। केवल भूल इतनी ही है कि हम थोड़े-से ज्ञान के आधार पर ही काम कर बैठते हैं। किंतु बिना क्रिया के ज्ञान का परिपक्व होना कठिन है। क्रिया की कुंजी से ही ज्ञान के दुर्भेद्य रहस्य का ताला खुल जाता है। फिर भूल को हम भूल क्यों कहें।

बिना धरती पर पैर रक्खे उस स्थान की दृढ़ता नहीं मालूम होती। यदि निकल गए, तो पार हो गए, और यदि गिर पड़े या दलदल में फँस गए, तो अपने और दूसरों के लिये शिक्षा हो गई।

जो लोग भूल करके हानि उठाते हैं, वे मनुष्य-समाज के लिये अपने हित का बलिदान करते हैं, और स्वार्थ को तिलांजलि देकर पर-हित-साधन करते हैं। वे समाज का बड़ा उपकार करते हैं। वे हमारे पूज्य हैं। हम उनके उपकार से कदापि उऋण नहीं हो सकते।

एक मनुष्य की बलि से सारे मानव-समाज का अभ्युदय होता है। भूल करनेवाले का जीवन व्यर्थ नहीं जाता। जो लोग अपनी आत्मा का विस्तार सभी आत्माओं में देखते हैं, उनके लिये पर-हितार्थ अपना अनहित या स्वार्थ-त्याग श्रेय है। भूल से जो संसार

का लाभ होता है, उसी की ओर ध्यान दो—भूल करनेवाले व्यक्ति की हानि पर नहीं। फिर तो भूल सचमुच भूल न रहेगी। वह हानि हानि नहीं, जिसमें भावी उन्नति की संभावना हो।

जो लोग भूल करते हैं, वे मनुष्य की आवश्यकताओं का सुझाव समाज पर प्रकाशित कर देते हैं। भूल से बढ़कर मनुष्य की आवश्यकताओं का और कोई ज्ञापक नहीं। भूल करने पर ही हमें यह मालूम होता है कि हमें किस बात की खोज थी। भूल से ही खोज का महत्त्व बढ़ जाता है। भूल करने पर ही यह मालूम होता है कि हमारी आवश्यकता इतनी बड़ी हुई थी कि हमें उसकी पूर्ति के लिये भूल करनी पड़ी। क्या अपनी आवश्यकताओं की जानकारी रखना हमारी उन्नति का एक मुख्य साधन नहीं? जो लोग अपनी आवश्यकताओं को नहीं जानते, वे उनकी पूर्ति में यत्नवान् नहीं हो सकते।

भूल ही हमारी उन्नति का द्वार है। जो लोग भूल नहीं करते, वे अपनी उन्नति का द्वार बंद किए हुए बैठे हैं। यदि भूल करके अपनी भूल के ऊपर विचार करें, तो अपनी स्वल्प हानि से गुरुतर लाभ उठा सकते हैं; कंकड़ों के मोल में रत्न खरीद सकते हैं।

फिर निराशा क्यों ?

हमारा नेता कौन ?

"मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण
कङ्कोलनिम्बकुटजा अपि चन्दनाः स्युः।"

—भर्तृहरेः

"सहजो गुरु ऐसा मिलै, मेटै मन-संदेह ;
नीच-ऊँच देखै नहीं, सब पर बरसै मेह।"

—सहजो

They (Kabir, Nanak and others) did not say, "You have been wicked, now let us be good." They said, "You have been good, now let us be better."

—Swami Vivekanand

हम पाप-पंक में फँसे हुए हैं। हमें इससे कौन उबारेगा ? हमारा नायक कौन ? हमारा नेता वही हो सकता है, जो हमारे साथ है ; जो लोग हमारे साथ नहीं, उन्हें हमारी कठिनाइयों का यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। उनके उपदेश से हमारे लाभ की कोई संभावना नहीं।

लोग कहते हैं, अंधा अंधे को राह नहीं बतला सकता। क्या यह ठीक है ? नेत्रवानों और अंधों का अनुभव एक-सा नहीं। नेत्रवान् के अनुभव से अंधे लाभ नहीं उठा सकते। "खग जाने खग ही की भाषा।" "गजानां पङ्कमग्नानां गजा एव धुरन्धराः।"

जो लोग हमसे बाहर हैं, वे हमारे साथ ज़ोर नहीं लगा सकते। ऐसे कितने हैं, जो हमसे बाहर हैं, फिर उनका बल भी कितना।

हमारे उद्धार के लिये हमारे साथ रहकर ज़ोर लगाने की ज़रूरत है। जो हमारे साथ नहीं, वह हमारा नेता नहीं। हमारे साथ जिसकी सहानुभूति नहीं, हमारी सहकारिता में जो योग नहीं देता, जिसके निर्मल हृदय-दर्पण में हमारे दुःख का सच्चा प्रतिबिंब नहीं, वह कदापि हमारा अग्रनायक नहीं।

हमारा सच्चा नेता वही है, जो हमारे साथ रहते हुए भी आगे की ओर निगाह डाल सकता है। आगे की ओर देखना ही उन्नति के पथ में पैर रखना है। आगे की ओर देखते ही हमें अपनी स्थिति का ज्ञान होने लगता है। जहाँ अपनी स्थिति का ज्ञान हुआ, वहीं फिर उस स्थिति में रहना कठिन पड़ जाता है। जो नीचों में रहकर ऊँचे आदर्श रक्खें, वे ही हमारे नेता हैं। संसार में ऐसे नेताओं की कमी नहीं। नेता की पदवी सबको मिल सकती है, किंतु जो लोग अपने को हमसे आगे बढ़ा हुआ समझते हैं, वे इस गौरव को नहीं प्राप्त कर सकते।

नेता बनकर अपने को नेता न समझना, यही नेतृत्व का मुख्य लक्षण है। जो लोग अपने को नेता समझते हैं, वे हम लोगों से बाहर हो जाते हैं—न वे हमारे बल से लाभ उठा सकते हैं, और न हम उनके बल से। नेता की सफलता अपने साथियों की सफलता में है। नाम नेता का होता है, पर कार्य-सिद्धि साथियों की। फिर नेताओं को अपने को साथियों से बड़ा समझने का क्या अधिकार ?

नेता की श्रेष्ठता केवल इस बात में है कि वह उस आदर्श को पहले देखता है, जिसे उसके साथी पीछे देखेंगे। वह नेता सच्चा नेता नहीं, जो अपने साथियों को अपना-सा नहीं बनाता। लोहे को सोना बनाना कोई दुष्कर कार्य नहीं, किंतु लोहे को पारस बना देना कठिन है।

नेता का कार्य दूसरों को उनकी संकुचित दृष्टि के कारण अंधा कहने का नहीं। वह भी कुछ काल पहले अंधा ही था। थोड़े ही दिनों बाद उसके साथी दूर का पदार्थ देखने लग जायँगे। नेता को चाहिए कि वह अपने अनुभव को दूसरों का अनुभव बनाने का यत्न करे। लोगों के दृष्टिकोण को अपने दृष्टिकोण से मिलाना ही नेता का परम कर्तव्य है। नेताओं की कमी नहीं। प्रत्येक मानव-समाज में नेता विद्यमान है। उनमें केवल एक बात की आवश्यकता है कि वे अपना नेतृत्व भूल जायँ। अपने को साधारण लोगों में से समझें। समाज में मिलकर सारे समाज को अपने नए रंग में रँग दें। ऐसा करने से मूर्ख लोग पंडित बन जायँगे। मूक भी वाचाल हो जायँगे। पिछड़े हुए लोग अग्रसर हो जायँगे। साथी और नेता में कोई भेद न रहेगा। चेला भी गुरु बन जायँगे।

फिर निराशा क्यों ?

कर्मयोग की मोक्ष

"कर्म-प्रधान विश्व करि राखा।"

—तुलसीदास

"वैराग्य साधने मुक्ति, से आमार नय!
असंख्य बंधन माझे महानंदमय
लभिब मुक्तिर स्वाद।"

—गीतांजलि

"नीचो, ऊँचो, परम पद मिलत करम-अनुसार।"

—दुलारेलाल भार्गव

"तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।"

—श्रीमद्‌भगवद्‌गीता

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।"

—ईशोपनिषद्

हम सत्ता-सागर के वक्षःस्थल पर बहनेवाले तृण नहीं। उस सागर की गति का वेग निश्चित करने में हमारा बहुत बड़ा भाग है। संसार में सामंजस्य स्थापित करना हमारा मुख्य उद्देश्य है। ईश्वर चाहता है कि हम नितांत दूध पीनेवाले बच्चे न बने रहें। वह संसार को एक ओर चलाने की शक्ति रखते हुए भी हमारी पुष्टि और वृद्धि के लिये अपनी अपरिमित शक्तियों का संकोचन किए रहता है। हमें क्रिया-परायण और उद्यमशील देखकर वह प्रसन्न होता है। वह कभी नहीं चाहता कि आश्रित जीव निरे मिट्टी के पुतले बने रहें। निष्क्रिय मिट्टी के पुतलों का ईश्वर होना कोई गौरव का विषय नहीं।

कर्म को छोड़ना ही बंधन में पड़ना है। कर्म के त्याग से ही पानी के ऊपर बहते हुए क्रिया-शून्य तृण की भाँति हमारी दशा हो जाती है। इससे और अधिक बंधन क्या हो सकता है? फिर कर्म करने से बंधनों की रस्सी टूट जाती हो, ऐसा भी नहीं। चोरी भी तो एक कर्म है, पर चोर को पाप से छुटकारा नहीं मिलता। जो कर्म संसार में अनेकता का भाव पैदा करते हैं, वे संसार में सामंजस्य स्थापित करने में असम रहते हैं। वे व्यष्टि को समष्टि से अलग कर उसे समष्टि-जन्य यथेष्ट बल के लाभ से वंचित कर देते हैं। उसकी शक्तियों का पूर्ण विकास नहीं होने पाता। नीच स्वार्थ-साधन के निमित्त किए हुए कर्म-जल-कण को सागर से पृथक् करने की चेष्टा करते हैं। सागर से पृथक् होकर जल-कण गति-हीन हो जाता है—यही परम बंधन है। व्यष्टि का समष्टि से अलग होना असाम्य को बढ़ाता है। असाम्य द्वारा समष्टि और व्यष्टि दोनों ही का संबंध-तंतु क्षीण हो जाता है। शक्तियों का यथेच्छ एवं यथोचित विकास न होना ही बंधन है। कर्मों के संकोच द्वारा मोक्ष नहीं मिल सकती। फिर मोक्ष किस कर्म से मिलती है, वह किस प्रकार की होगी, और कब मिलेगी?

जिन कर्मों का मूल केवल स्वार्थ-साधन में संकुचित नहीं हो सकता—जो कर्म संसार-सागर के जल-कणों में सामंजस्य स्थापित कर संसार-सागर की उन्नति के विकास में योग देते हैं, वे ही कर्म मोक्ष-प्रद हैं। समष्टि की उन्नति से ही व्यष्टि की भी उन्नति है। व्यष्टि समष्टि से अलग होकर अपनी स्थिति नहीं रख सकती। समष्टि ही व्यष्टि की सच्ची आत्मा है। समष्टि के लिये जो कर्म है, उसी में सच्चा स्वार्थ है।

समष्टि के योग से जो व्यष्टि की क्रियाएँ होती हैं, वे ही उसकी शक्तियों को यथोचित रीति से विकसित करने में समर्थ होती हैं।

वे ही उसकी संकीर्णता और परिमितता को छिन्न-भिन्न कर सकती हैं। कर्म ही व्यष्टि को समष्टि से मिला देते हैं। वे ही उसके जटिल बंधनों को तोड़ने में समर्थ होते हैं। वे ही कर्म उसे ईश्वर के निकट पहुँचाने में समर्थ होते हैं, और वे ही ईश्वर तथा मनुष्य के संकल्पों की एकता कर मनुष्य की परिमितता को छुड़ा देते हैं। यह मोक्ष स्वार्थ की मोक्ष नहीं, समष्टि की मोक्ष है। फिर यह मोक्ष कोई दूरवर्ती वस्तु भी नहीं। इसका अनुभव तो प्रत्येक सत्कार्य करते समय होता रहता है। यदि मोक्ष प्राप्त करना है, तो सत्कार्यों की ओर रुचि बढ़ाना चाहिए। मोक्ष दुर्लभ नहीं, न इसके लिये बहुत काल तक ठहरना पड़ेगा। मनुष्य होते हुए भी हम अपनी परिमितता छोड़ सकते हैं। ईश्वर के सान्निध्य में पहुँच सकते हैं। उसके अनुभव से अपने अनुभव के साम्य का सुख और आनंद भोग सकते हैं। सच्चा ऐक्य एकता-संबंधी ज्ञान की भित्ति पर क्रिया करने में है। क्रिया में ही सच्चा अनुभव है। साम्यमय क्रिया ही सच्ची निष्क्रियता है। स्वार्थ ही बंधन है, और निःस्वार्थता मोक्ष। विश्वात्मा के अनुभव में अपना अनुभव मिला देना, सबके साथ निर्वैरभाव ही नहीं, आत्मभाव रखना और पूर्ण शांति तथा साम्य का उत्तरोत्तर आनंदमय अनुभव करते रहना ही मोक्ष है। चाहे वह मरणोत्तर हो, चाहे मरण-पूर्व। मोक्ष के लिये मरना आवश्यक नहीं, वह बिना मरे ही मिल सकती है।

फिर निराशा क्यों ?

संघर्ष

"अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्;
जयेत्कदर्यं दानेन जयेत्सत्येन चानृतम्।
कर्म चैतद्धि साधूनामसाधुं साधुना जयेत्;
धर्मेण निधनं श्रेयो न जयः पापकर्मणा।"

यद्यपि सभी युगों में थोड़ा बहुत संघर्ष रहा है, तथापि इस युग में संघर्ष की मात्रा अधिक है; संघर्ष विश्वव्यापी हो रहा है। कोई ऐसा क्षेत्र नहीं, जो संघर्ष से खाली हो। धर्म का उदय मानव-समाज में ऐहिक और पारलौकिक शांति के लिए हुआ था, किंतु आजकल धर्म अशांति का केंद्र बन गया है। जो लोग धर्म से उदासीन हैं, वे भी शांत नहीं रहते। वे लोग अपनी उदासीनता को ही एक धर्म बनाकर एक प्रतिद्वंद्वी मत खड़ा कर देते हैं। भारतवर्ष में तो हिंदू-मुस्लिम झगड़े जातीय जीवन पर कुठाराघात कर रहे हैं। विरोधी धर्मवाले तर्क और युक्ति को छोड़कर लाठी-डंडों का सहारा लेते हैं, एक दूसरे को हानि पहुँचाने ही में धर्म की इति-कर्तव्यता मानते और मिथ्याभिमान के कारण वास्तविक हित का बलिदान करने में गौरव और बुद्धिमत्ता समझते हैं। बहुत-से सामाजिक झगड़े भी धर्म की भित्ति पर खड़े हुए हैं। प्राचीनता नवीनता का विवाद भी धर्म के सहारे ही चल रहा है। एक ओर नवीनता का घोर विरोध किया जाता है, तो दूसरी ओर प्राचीनता को ही देश की अवनति का कारण बतलाया जाता है। प्राचीन लोग यह भूल जाते हैं कि जिसे वे आज प्राचीन कहते हैं, कभी वही नवीन था, और नवीन लोग इस बात पर

ध्यान नहीं देते कि उनकी संतान उन्हें ही प्राचीन और दक़ियानूसी ख़याल का बतलावेंगे। सामाजिक क्षेत्र में जाति-पाँति और स्त्री-पुरुष-संबंधिनी समस्याएँ मानव-जाति को युद्धस्थली बनाए हुए हैं। वास्तव में लोग वंश-परंपरागत अधिकारों की रक्षा कर रहे हैं। जिसे जो अधिकार प्राप्त है, वह उन्हें सहज में नहीं छोड़ना चाहता। सारा धर्म छुआछूत और जाति-पाँति पर अवलंबित हो रहा है। स्त्री-पुरुषों में समता का ही प्रश्न नहीं है, वरन् एक दल दूसरे दल को पीछे हटाकर आगे बढ़ना चाहता है। वैवाहिक बंधन शिथिल हो गए हैं। भारतवर्ष में भी तलाक़ और स्वतंत्र प्रेम के पक्ष में आवाज़ उठाई जा रही है। दूसरी ओर पर्दा-प्रथा के पक्षपाती स्त्री-शिक्षा तक का विरोध कर रहे हैं। औद्योगिक तथा राजनीतिक क्षेत्रों में और सब जगहों से भी बुरा हाल है। पूँजीपति लोग समझते हैं कि रुपया ही सबसे बड़ी संचालन-शक्ति है, बिना रुपए के सब काम पड़े रहते हैं। उधर मज़दूर लोग यह समझते हैं कि वे ही सच्चे उत्पादक हैं। उनके बिना धन अनुत्पादक रहता है। राजनीतिक क्षेत्र में भी अधिकारों का प्रश्न है। प्राप्त अधिकारों को कोई नहीं छोड़ना चाहता। विजित जातियाँ मनुष्यों के समान अधिकारों की दुहाई देती हुई कहती हैं कि वे बंधनों में कब तक जकड़ी रहें, और विजेतागण अपने को विजित लोगों का हित-रक्षक बताते हुए इन बंधनों को रक्षा के साधन और उन्नति के विधायक सिद्ध करते हैं। अंतरराष्ट्रीय संघर्ष भी कुछ कम अशांतिजनक नहीं। निरस्त्रीकरण के वार्तालाप से वायु-मंडल व्याप्त हो रहा है, किंतु युद्ध के नित नए साधन तैयार होते जाते हैं। 'मुँह में राम, बग़ल में ईंटें' की बात चरितार्थ होती-सी दिखाई पड़ती है। आर्थिक उन्नति के लिये धर्म और न्याय की उपेक्षा की जाती है। जो स्वार्थ व्यक्तियों में संघर्ष का कारण है, वही जातियों में खींचा-तानी उत्पन्न कर रहा है। यद्यपि मनुष्य-जाति ने नख-दंत आदि

स्वाभाविक अस्त्रों को त्याग दिया है, तथापि अब उनसे भयानक और तीव्र अस्त्र तैयार कर लिए हैं। जितना ही ज्ञान बढ़ता जाता है, उतनी ही प्रतिद्वंद्विता में वृद्धि हो रही है। व्यापारिक प्रतिद्वंद्विता भी गोला-बारूद से कम घातक नहीं। बेकारी भी दिन-प्रति-दिन भीषण रूप धारण करती जाती है। बढ़ती हुई आवश्यकताओं के अनुकूल आय नहीं है। असंतोष क्रोध और क्रूरता को बढ़ा रहा है। क्रोध की अग्नि जब प्रज्वलित हो जाती है, तब सहज में नहीं बुझती। वायु-मंडल संकुचित और विषाक्त बनता जा रहा है। साँस लेने में दम घुटता-सा मालूम होता है, फिर आशावाद के लिये क्या स्थान ?

आशावादी जो कुछ हो चुका है, उसकी ओर देखता है, जो कुछ नहीं हुआ, उसे देखकर निराश नहीं होता। इतना ही नहीं, मनुष्य की असफलता उसके उद्योग को जारी रखने में सहायक होती है। मानव-जाति की उपर्युक्त समस्याएँ ऐसी नहीं, जो सावधानी से विचार करने पर हल न हो सकें। यद्यपि मनुष्य में स्वार्थ की मात्रा अधिक है, तथापि अनुभव यह बतलाता है कि सच्चा स्वार्थ निःस्वार्थता में है। संकुचित स्वार्थ स्वार्थ का ही घातक होता है। मनुष्य में जहाँ घृणा के भाव हैं, वहाँ सहानुभूति और सामाजिकता भी है; सद्‌शिक्षा की आवश्यकता है। अभी तक लोग दूसरों को नीचा समझने में अपनी उच्चता मानते हैं; किंतु अब, जैसे ज्ञान का विस्तार होता जाता है, एक को दूसरे की योग्यता का परिचय मिलता जाता है। संसार के साहित्यिक एक दूसरे के अधिक निकट आते जा रहे हैं। अनेक साहित्यिक यद्यपि राजनीतिक क्षेत्र में नहीं हैं, तथापि अपनी रचनाओं द्वारा दूसरी जातियों में आपका भाव बढ़ाकर बड़ा राजनीतिक कार्य कर रहे हैं।

मानव-जाति में वृत्तियों-शक्तियों की भाँति आपस में अट

मरने की प्रवृत्ति अवश्य है, किंतु उसमें आत्मरक्षा की भावना और बलवती है। सच्ची आत्मरक्षा दूसरों को दबाकर रखने में नहीं है; क्योंकि दबा हुआ मनुष्य कभी मित्र नहीं बन सकता। मानव-जाति इन सिद्धांतों को समझती जा रही है। हाँ, इन सिद्धांतों का प्रचार अभी यथेष्ट रूप से नहीं हुआ है, किंतु यह निराशा की बात नहीं है। विचार-क्षेत्र में सिद्धांत के प्रकट होने में भविष्य के लिये शुभाशा है। ये सिद्धांत केवल जातियों के सुधार के अर्थ ही विचार-क्षेत्र में नहीं आए हैं, वरन् व्यक्तियों के सुधार में भी ये काम में लाए जा रहे हैं। दंडविधान बदला लेने के लिये नहीं रक्खा गया है, वरन् अभियोगी के सुधार के लिये। दुष्कर्म करने की प्रवृत्ति अब एक मानसिक रोग समझा जाने लगा है, और उसकी चिकित्सा के साधन ढूँढ़े जा रहे हैं। जिस प्रकार व्यक्ति के मनो-विज्ञान ने व्यक्तिगत रोगों की चिकित्सा में बड़ी सहायता पहुँचाई है, इसी प्रकार सामूहिक मनोविज्ञान का अध्ययन जातियों और संगठित समूहों के दंभ, घृणा आदि रोगों को कम करने में सहायक होगा। राजनीतिक और अंतर्राष्ट्रीय समस्याएँ यद्यपि बहुत जटिल हैं, तथापि दृष्टि-कोण के बदलने से वे सहज में सुलभ हो जायँगी। अभी तक ये समस्याएँ बिलकुल दूकानदारी के सिद्धांतों पर चल रही हैं। व्यापार के भी सिद्धांत बुरे नहीं, किंतु व्यापार उच्च कोटि का भी होता है, और नीचे दर्जे का भी। जिस प्रकार व्यापारिक व्यापार में सचाई आती जा रही है, उसी प्रकार राजनीतिक व्यापार में भी सचाई स्थान पाती जा रही है। सत्य की सदा जय होती है, किंतु कभी-कभी ज़रा देर लग जाती है। अभी व्यापार-नीति से चलकर न्याय और धर्म-संबंधिनी उदार नीति की शिक्षा ग्रहण करना है। धर्म-नीति में दो पक्ष नहीं रहते। एक ही पक्ष को दूसरे पक्ष का वास्तविक हित देखने का उत्तरदायित्व लेना पड़ता है। दूसरे

पक्ष के वास्तविक हित देखने में अपना स्वार्थ त्यागना पड़ता है। इसके लिये शिक्षा की आवश्यकता है। वह शिक्षा हमें स्वयं देनी चाहिए। स्वयं शक्तिवान् बनकर दूसरों को भी शिक्षा दे सकते हैं। साम्य स्थापित करने के लिये परस्पर आदान-प्रदान अपेक्षित है। पहले स्वयं दान करना चाहिए, फिर दूसरों से प्रत्युपकार की आशा रखनी चाहिए। निष्काम कर्म किया जाय, तो सबसे अच्छा हो। सज्जनता कभी निष्फल नहीं जाती।

अन्य समस्याएँ भी परस्पर आदान-प्रदान से हल हो सकती हैं। यद्यपि धर्म में अंध-विश्वास के लिये स्थान नहीं, तथापि धार्मिक भाव के लिये अब भी गुंजाइश है। हम आदर का व्यवहार चाहते हैं, हम उदारता चाहते हैं, हम अपने जीवन में सरसता चाहते हैं, हम अपने में प्रेम और दया की स्निग्धता और आर्द्रता देखने को उत्सुक हैं। यही धार्मिक भाव है। यदि हम अपने ईश्वर को व्यापक रूप में देखना चाहते हैं, तो ईश्वर की संतान से विरोध नहीं कर सकते। यदि दूसरे अज्ञानांधकार में हैं, तो हमें चाहिए कि उन्हें ज्ञान का प्रकाश दिखलावें, न कि अपने अज्ञान से उनका अज्ञान द्विगुणित कर दें। प्राचीन-नवीन का भी झगड़ा उदारता की अपेक्षा रखता है। प्राचीनों को यह ख़याल करना चाहिए कि संसार परिवर्तनशील है। समय की गति किसी के रोके नहीं रुकती, किंतु वे लोग उस परिवर्तन को उच्छृंखलता में परिणत होने से रोक सकते हैं। नवीनों को भी इस बात को मानना पड़ेगा कि हमें नवीन इमारत पुरानी नींव पर ही बनाना है। हमें उन्नति अवश्य करनी है; परंतु एक क्रम से। केवल परिवर्तन से कोई अर्थ नहीं सधता, हमें उन्नति चाहिए। उन्नति में क्रम और विकास रहता है। क्रम में पूर्वापर संबंध का विच्छेद नहीं होता। हमें चाहिए कि हम अपना जातीय व्यक्तित्व रखते हुए उन्नति करें।

जाति-पाँति की समस्या में हमें पहले मस्तक लेना चाहिए कि कोई जन्म-मात्र का अधिकार स्वीकार करने को तैयार न होगा। यदि हम दूसरों से आदर चाहते हैं, यदि हम चाहते हैं कि दूसरे हमें पूजें, तो हमें अपने गुणों से, अपने प्रेम से और सहानुभूति से दूसरों के हृदय में स्थान प्राप्त करना चाहिए। पतितों को भी चाहिए कि हम जिनकी समता चाहते हैं, उनकी समता के योग्य बनें। दोनों ही ओर योग्यता की आवश्यकता है। बिना योग्यता के अधिकार नहीं मिलता। हाँ, मनुष्य-मात्र के अधिकार सबको प्राप्त हैं। व्यक्ति चाहे योग्य हो, चाहे अयोग्य, उसे अपनी नैतिक आवश्यकताओं की पूर्ति का अधिकार है।

स्त्री-पुरुष समस्या का मूल कारण यह है कि पुरुष स्त्रियों को अपनी स्वार्थ-सिद्धि का साधन समझते हैं। स्त्रियाँ भी प्रायः ऐसा ही समझने लगी हैं। विवाह अब आध्यात्मिक सहयोग का साधन नहीं रहा। विवाह का आधार इंद्रियों का आकर्षण हो गया है, मन का आकर्षण नहीं। यही तलाक और स्वतंत्र प्रेम का कारण है। इसमें भी शिक्षा की आवश्यकता है। दृष्टिकोण को धार्मिक बनाने से सारी समस्याएं हल हो सकती हैं। 'आत्मवत्सर्वभूतेषु' मानना ही सच्ची धार्मिकता है।

यह आशावाद अकर्मण्यता नहीं है। असंतोष क्रिया का प्रेरक अवश्य होता है, किंतु उसके साथ आशा और विश्वास की आवश्यकता है। यदि हमें मनुष्य-जाति की उच्च संभावनाओं में विश्वास नहीं, तो सारी शिक्षा निष्फल हो जाती है। उद्योग भी हलका पड़ जाता है। जो श्रद्धा और विश्वास धर्म में आवश्यक हैं, वे कार्य-क्षेत्र में भी अपेक्षित हैं। मनुष्य-जाति की उच्च संभावनाओं में विश्वास रखते हुए हम अपने कार्य को उत्साह-पूर्वक कर सकते हैं। संसार संघर्षमय अवश्य है, किंतु हम कम-से-कम अपने अंश में संघर्ष

को कम कर सकते हैं। हमारी सद्भावनाएँ निष्फल नहीं जायँगी। लगन के आगे कोई प्रतिबंध नहीं ठहरता। हम समाज के जीवित केंद्र हैं, हम समाज की गति में अंतर ला सकते हैं। हमारे विचार दूसरों को प्रभावित करते हैं। यदि बुरी बातें संक्रामक हैं, तो अच्छी बातें भी संक्रामक हो जगद्व्यापिनी बन सकती हैं।

फिर निराशा क्यों?

विफलता

"मा ! मेरे जीवन की हार
तेरा मंजुल हृदय-हार हो ।"

—पंत

"आगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते ;
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति ।"

* * *

"लो चार्थी विफलोऽपि दूषणपदं दूष्यस्तु कार्यो लघुः ।"

—मुद्राराक्षस

संसार में मनुष्य सब कुछ होता हुआ भी कुछ नहीं है। वह सोचता कुछ है, और होता कुछ है। उसके मनोरथ मन के अर्थ अथवा रथ रह जाते हैं, जिन पर बैठकर वह चक्कर लगाता रहे, किंतु हाथ कुछ न आवे। वह परिश्रम करता है, किंतु उसका फल कुछ नहीं होता। कभी-कभी तो नेकी करते बुराई हाथ लगती है ; होम करते हाथ जलता है। रंग में भंग होना जीवन के प्रत्येक दिन का अनुभव है। स्कूल और कॉलेजों की परीक्षाओं में तो विफलता साधारण-सी बात है, किंतु जीवन की परीक्षाओं में विफल होना बड़ा ही व्यापक महत्त्व रखता है। ज़रा-सी भूल में सारे जीवन की तपस्या भ्रष्ट हो जाती है—सारी आशाओं पर पानी पड़ जाता है। कभी-कभी तो अपनी भूल भी नहीं होती। विधि के चक्र में पड़कर यही कहना पड़ता है कि "लिखत सुधाकर लिखिगा राहु।" हम सुधार के लिये कमर कसकर खड़े होते हैं, किंतु या तो हम स्वयं

प्रलोभनों में पड़ जाते हैं, अथवा हमारे साथी प्रलोभनों में पड़कर हमारा साथ छोड़ देते हैं, और हमारी सारी योजनाएँ धूल में मिल जाती हैं। हम कल्पना के उच्चतम शैलशिखर से गिरकर वास्तविकता के अंधकारमय गर्त में गिर पड़ते हैं। हमारे साम्राज्य के स्वप्न वर्षा-कालीन बादलों की भाँति छिन्न-भिन्न हो जाते और क्षण-भर में हम राजा से रंक बन जाते हैं। आशावादियों का स्वप्निल संसार चाहे जितना दिव्य हो, किंतु वास्तविक संसार बड़ा कर्कश, अत्यंत कठोर है। उसमें पद-पद पर आपत्ति और विफलता का सामना करना पड़ता है। परंतु आशावादी को उस कठोरता में हीरक-खंड की द्युति दिखाई देती है, उसकी आशा पारस-मणि का काम करती है, उसके स्पर्श से लोहा भी स्वर्ण बन जाता है। केवल कल्पना ही में नहीं, वरन् वास्तविकता में भी उसका संसार बदल जाता है। उसके लिये हार ही जीत बन जाती है, उसे विफलता में ही सफलता दिखाई पड़ने लगती है। उसका मुख-कमल प्रसन्नता से खिला रहता है। हार में हमें मानव-शक्ति का परिचय मिलता है। विफलता द्वारा ही हमें यह ज्ञात होता है कि संसार में और भी शक्तियाँ हैं, और हम उनसे टक्कर लेकर उन्हें अपने अनुकूल बनाने का यत्न कर रहे हैं। यदि हमारा आदर्श ऊँचा है, तो विफलता केवल यही बतलाती है कि अभी संसार हमारे साथ चलने को तैयार नहीं है, और अभी हममें और हमारे वातावरण में पूर्ण साम्य स्थापित नहीं हुआ। विफलता हमारे आदर्श की उच्चता की द्योतक है। जो हम होना चाहते हैं, वह महत्व रखता है; जो हम नहीं हो सके, उसका अधिक मूल्य नहीं। हाँ, इतना प्रश्न अवश्य है कि हमने अपना यत्न पूरे तौर से किया या नहीं। यत्न न करना, आलस्य में पड़े रहना, अपनी न्यूनता का दोष दैव के सिर मढ़ना अथवा अपने ही सोचा रखना निंदास्पद बातें हैं। यत्न करने पर यदि सिद्धि न हो,

जो हमारा दोष नहीं। उस असफलता में हमारा गौरव है। विफलता एक प्रेरक शक्ति है। विफलता मनुष्य को मिथ्याभिमान से, जो उन्नति में बाधक होता है, बचाती है। जो लोग आशु सफलता प्राप्त कर लेते हैं, वे चौमासे की लता की भाँति शीघ्र ही बढ़कर सूख जाते हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं कि जल्दी सफलता प्राप्त करना बुरा है; वरन् यह कि सफलता चाहे जल्दी हो चाहे धीरे, चिरस्थायिनी होनी चाहिए। विफलता हमारी अयोग्यता को प्रकाश में लाकर हमें साफल्योन्मुख बनाती है। कभी-कभी विफलता हमें यह भी बतला देती है कि हमने जो मार्ग चुना है, वह ठीक नहीं है, विफलता नवीन मार्गों की खोज में सहायक होती है। विफलता की कुंजी से नए द्वार खुल जाते हैं। विफलता द्वारा धैर्य परीक्षा की अग्नि में पड़कर तप्त स्वर्ण की भाँति देदीप्यमान हो उठता है। 'आपति-काल परखिए चारी—धीरज, धर्म, मित्र अरु नारी।' विफलता द्वारा हमारी शक्ति बढ़ती है। विफल होना पाप नहीं; हाँ, विफल होकर निरुद्योग बैठ रहना अवश्य निंदनीय है। जो लोग विफलता का महत्त्व नहीं जानते, वे ही विफलता से निराश होते हैं। यदि विफलता हमारी न्यूनता के कारण है, तो हमें वह न्यूनता पूरी करनी चाहिए, और यदि दूसरों की प्रतिकूलता के कारण है, तो दूसरों को अनुकूल बनाना चाहिए। विफलता से दुःखित न होना हमारे प्रतिद्वंद्वियों को विफल बना देता है। यदि लोग हमारे मार्ग में रोड़ा अटकाना चाहते हैं, और हम उससे विचलित नहीं होते, तो हमारे विरोधी हतोत्साह हो जाते हैं। उनका मनोरथ सिद्ध नहीं होता। पराजय में हमें विचलित नहीं होना चाहिए, किंतु हमारा पक्ष ऐसा न हो, जिससे हमें लज्जा आवे। सत्य पक्ष में पराजित होना भी गौरव की बात है, असत्य पक्ष ग्रहण करनेवाले स्वयं विजेता ही की नैतिक पराजय हो जाती है। धोखा देनेवाले

की अपेक्षा पीड़ित का नैतिक मूल्य अधिक होता है। पीड़ित का नैतिक मूल्य उसे संसार की दृष्टि में ऊँचा कर देता है। पीड़ा देनेवाला भी स्वयं लज्जित होने लगता है। हमें अपनी हानि में ही अपना लाभ समझना चाहिए। जितना हमने दूसरे से छीना है, वह हमारे गौरव का विषय नहीं, वरन् वह है, जो हमने दूसरों को दिया है।

पराजय और आपत्तियाँ हमारा नैतिक महत्त्व प्रमाणित करती हैं, वे हमारी शक्ति की वर्धक हैं। पराजय और विफलता हमारी भावी उन्नति की साधक शक्तियाँ हैं। वे सफलता देवी के स्वर्णा-रथ को खींचकर हमारे द्वार पर खड़ा कर देंगी, और यदि हम अपनी संलग्नता को नहीं छोड़ेंगे, तो स्वयं सफलतादेवी हमारे गले में जयमाल डालकर हमें वरेंगी।

फिर निराशा क्यों?

चिर-वसंत

"Come and rejoice for April is awake.

Fling yourselves into the flood of being bursting the bondage of the past.

April is awake.

Life' s shoreless sea is heaving in the sun before you.

All the losses are lost, and death is drowned in the waves.

Plunge into deep without fear.

With the gladness of April in your heart."

--The Cycle of Spring

"सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते"—वसंत-ऋतु में सभी पदार्थ मनोमोहिनी शोभा धारण कर मनुष्य के चित्त को चलायमान कर देते हैं। केवल मनुष्य का चित्त ही चलायमान नहीं होता, बल्कि सारी चराचर सृष्टि में ऋतुराज के स्वागतार्थ क्रिया की स्फूर्ति होने लगती है। वृक्ष और लताएँ हर्षोत्फुल्ल होकर अपने सुंदर अंगों को नूतन पल्लवों के विकास से पुलक-पल्लवित बना लेती हैं। शीतल-मंद-सुगंध वायु का सुखद संचालन, विविध, विचित्र विहंगों का सरस कलरव और पशुओं की भाँति-भाँति की केलि, ये सब क्रिया-संचार की साक्षी हो रही हैं। फूल नव-सृष्टि की प्रसन्नता में फूल उठते हैं। चारों ओर हर्ष और उत्साह का साम्राज्य स्थापित

हो जाता है । "ऋतूनां कुसुमाकरः"—इन अर्थ-पूर्ण शब्दों द्वारा श्रीकृष्ण भगवान् ने भी इस ललित, कलित वसंत-ऋतु की महत्ता और गरिमा बतलाई है ।

क्या हम इस वसंत को चिरस्थायी बना सकते हैं ? हाँ, हम अपने सद्भावों द्वारा बीत जानेवाली ऋतुओं की गति फेर सकते हैं ।

जिसके हृदय में प्रेम है, उसे सब वस्तुएँ परम प्रिय दिखाई पड़ती हैं । उसके लिये काल-विशेष की आवश्यकता नहीं । प्रेमांध को श्रावण मास के अंधे की भाँति दिग्दिगंत में निराली हरियाली ही दृष्टिगोचर होती है । उसके लिये प्रेमास्पद वस्तु की प्रत्येक बात नवीनता, प्रफुल्लता और सौष्ठव धारण कर लेती है । उसके हृदय-क्षेत्र में उगे हुए उज्ज्वल अंकुर कभी नहीं कुम्हलाते । वे दिन दूना रात चौगुना वृद्धिगत होते रहते हैं । जिस हृदय में प्रेम-वसंत अपनी बहार दिखा रहा है, उसमें से सत्क्रियाओं के स्रोत निशि-वासर बहते रहते हैं । जिसके हृदय में परोपकार करने की लालसा लगी हुई है, उसके लिये कोई भी मुहूर्त बुरा नहीं । क्रियावान् के लिये कोई भी विघ्न नहीं । उसके लिये कंटक भी कुसुम बन जाते हैं । सारा संसार आशा के मधुर फलों से सुसज्जित दिखाई पड़ने लगता है । यही है—चिर-वसंत—मधुर मधुमय मधुमास !

इस चिर-वसंत में विहार करने के लिये हमें कहीं दूर न जाना पड़ेगा । किंतु सुचिर चिर-वसंत के शुभागमन से पूर्व ही हमारे हृदयोद्यान में वैमनस्य, आलस्य, निराशा, दुर्बलता, क्रोध, लोभ, भ्रांति, दंभ, मोह, द्वेष, मात्सर्य, अहंकार आदि अवगुणों के पतझड़ की आवश्यकता है । यदि आप एक बार विश्व-प्रेम को अपने हृदय-सिंहासन पर स्थान प्रदान करने का दृढ़ संकल्प करेंगे, तो सारी क्षुद्रता अपने आप ही जाती रहेगी । जब नई-नई पत्तियों का [illegible]

ज़ोर होने लगता है, तब सूखी पत्तियाँ आप-ही-आप गिर जाती हैं। एक बार इस चिर-चारु-वसंत को अपने हृदयोद्यान में बुलाइए, फिर तो इसका राज्य अटल हो जायगा। आपमें बल का संचार होने लगेगा। सारी सृष्टि सुषमामयी बन जायगी। परमानंद की त्रिविध बयारि आपके उत्साह और आशा को बढ़ावेगी। आपको चारों ओर से सफल-मनोरथ होने का आशीर्वाद मिलने लगेगा।

वसंत के आ जाने पर पतझड़ की ओर कोई ध्यान भी नहीं देता। एक बार प्रेम-वसंत की स्थापना हो जाने पर फिर सब पिछली निराशाएँ नाम-शेष रह जायँगी।

यदि इस समय पतझड़ हो रहा हो, तो आशा मत छोड़ो। पतझड़ ही वसंत की सुहावनी सूचना है। वसंत अपने समय पर आवेगा। हम अपने दृढ़ संकल्प द्वारा उसे शीघ्र ही निमंत्रित कर सकते हैं, उसे एक बार बुलाकर सदा के लिये रोक रखने में समर्थ हो सकते हैं। वह चिरकाल-पर्यंत हमारे हृदय में नए-नए भावों और शुद्ध संकल्पों को अंकुरित करता रहेगा। ये सब सद्भाव शीघ्र ही सत्क्रिया में परिणत होकर फलवान् होते रहेंगे।

हमें केवल उत्साह और आत्मविश्वास की आवश्यकता है। यदि ऋतुराज के स्वागतार्थ हमारे पास ये दो अमूल्य रत्न वर्तमान हैं, तो वह हमारे जीवन में पदार्पण करने में संकोच न करेगा। यदि हमें अपने ऊपर विश्वास नहीं, यदि हमारे पास उत्साह की कमी है, तो हमें ऋतुराज को निमंत्रण देने का कोई अधिकार नहीं। यदि हम सदा वसंतोत्सव मनाना चाहते हैं, तो एक बार दृढ़ संकल्प द्वारा कायरता, हृदय-दौर्बल्य और दीर्घसूत्रता को त्यागकर क्रिया-क्षेत्र में प्रविष्ट होना चाहिए। हमारे क्रिया-क्षेत्र में आते ही ऋतुराज का भी आगमन हो जायगा।

चारु वसंत के आगमन पर नई-नई संभावनाओं के सुंदर सुमन विकसित होने लगेंगे, और फिर वे ही फूल समय पाकर सुंदर रस-भरे फल बन जायँगे ।

एक बार इसका सादर स्वागत कर हम सदा के लिये सुखी बन सकते हैं । यह वह अतिथि है, जो सब सुख और संपत्ति का सामान अपने साथ लाता है । वह हमारे यहाँ खाने को नहीं आता, वरन् अपने फल-पुंज से हमें और हमारे संपूर्ण समाज को खिलाता है । ऐसे सर्व-संपत्ति-संपन्न सहृदय अभ्यागत को बुलाने में क्या संकोच ? ऐसा अतिथि कहाँ मिलेगा, जो अपनी अनंत संपत्ति द्वारा हमारी दरिद्रता और मलिनता दूर कर सदा तुष्टि-पुष्टि करता रहेगा । यदि हम इसका निरादर नहीं करेंगे, यदि हम इसका सहर्ष स्वागत करेंगे, तो यह परम उदारता के साथ हमारे ऊपर हमारा हर्ष और उत्साह बढ़ाने के लिये सदा सफलता-रूपी सुंदर सुमनों की वृष्टि करता रहेगा ।

फिर निराशा क्यों ?